लेखक की भारतीय कला विषयक अन्य प्रकाशित पुस्तके

- कला यात्री, नागपुर, 1954, दिल्ली. 1961
- श्री (भारतीय कला में लक्ष्मी), नागपुर, 1955
- नटराज (भारतीय मूर्ति-शिल्प में नृत्य की परम्परा), नागपुर 1956
- कला के प्राण : बुद्ध शासन साहित्य परिषद् नागपुर 1956
- भरहुत की शिल्प-कथाएँ, वाराणसी, 1956
- भारत के नृत्य : कथकलि, वाराणसी 1956
- कला के पद्म, सगरिया, (राजस्थान) 1961
- लद्दाख : कला और संस्कृति, दिल्ली 1961
- समन्वय की गंगा : मूर्ति-शिल्प, लखनऊ 1964
- मंगल गज (भारतीय कला में बौद्ध आतंक) लखनऊ 1965
- मध्य प्रदेश के कला-मंडप, ग्वालियर 1972
- साची के स्तूप, दिल्ली 1982
- भारतीय कला में बुद्ध चरित, आगरा 1991

ग्रन्थ-तालिकाएं (Bibliographies)

- Bibliography of Indian Art, New Delhi, 1979.
- Bibliography of Nepalese Art, New Delhi 1979
- हिन्दी में ललित-कला साहित्य

भारतीय कलाविद्

भारतीय

जगदीश चन्द्र चतुर्वेदी

भूमिका

आधुनिकता के अभ्युदय में पाश्चात्य, विशेषत: यूरोप, का प्रमुख योगदान एक सर्वविदित तथ्य है। वैज्ञानिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में उसकी उपलब्धियाँ तथा पूर्वी क्षेत्रों में उनकी आपेक्षिक श्रेष्ठता ने इसे बनाया। इस तथ्य के मूल में छिपा एक और सत्य भी है-वह है आर्थिक एवं राजनैतिक विस्तारवाद जो अन्तत: सांस्कृतिक विस्तारवाद में परिणित हो गया।

पूर्वी दुनिया का सांस्कृतिक परिवेश पश्चिमी दुनिया से मूलत: भिन्न रहा है, यही बात इन क्षेत्रों की कला मे भी परिलक्षित रही है। तात्विक एव नैसर्गिक मूल्यों ने पूर्वी कला को अधिक प्रभावित किया या यूँ कहे कि ये उसका अभिन्न लक्षण बने रहे, इसके विपरीत पश्चिमी कला में भौतिक लक्षणो की प्रधानता मिली। वास्तव मे प्राचीन काल में ही भारत मे इस देश की जीवन शैली और उसके प्रेरक मूल्य, यहाँ की कला और संस्कृति में प्रतिबिम्बित होते रहे। यहाँ अध्यात्म, प्रकृति और जीवन एक ओर तो एक दूसरे के पूरक बने रहे और दूसरी ओर वे आपस में इतने आत्मसात् हो गये कि वे एक दूसरे के पर्याय भी लगते है। भारतीय कला इन्हीं से उपजी है। मोहनजोदडो से मुगलकाल तक विभिन्न कला परम्पराओं को एक लड़ी में जोड़ने वाला यही सूत्र है और यही उन्हे भारतीय लक्षण प्रदान करने वाला प्रमुख तत्व रहा है। भारतीय कला की इस विशेषता को जान बिना इसकी महानता अथवा तात्विक ज्ञान सम्भव नहीं। प्रारम्भ में विदेशी विद्वानो ने इसे नही पहचाना और इसे नेटिवार (मूलवासियों) की अलकारिक तथा अपरिष्कृत जैसी कला समझा जाने लगा।

ऐसी निराशाजनक तथा प्रतिकूल स्थिति के अधकार में डूबे भारतीय सास्कृतिक क्षितिज में जिस प्रकाश किरण ने नई आशा की लहर जगाई, वह थी--ई0 बी0 हैवल, गगनेन्द्र नाथ, कुमारस्वामी जैसे महापुरुषों के अथक प्रयास में जिनसे प्राचीन भारतीय कला को विश्व की श्रेष्ठ कलाओं मे यथोचित स्थान व सम्मान प्राप्त हुआ। इनके इस ऋण से कौन मुक्त हो सकेगा, मोती चन्द्र, राय कृष्णदास, कनिंघम, शिवराम मूर्ति आदि इसी श्रृंखला के अनमोल रत्न हैं।

श्री जगदीश चन्द्र चतुर्वेदी स्वय भारतीय कला एवं सस्कृति के एक समर्पित पडित है जो वर्षों से किसी न किसी रूप मे शोध व लेखन द्वारा इस क्षेत्र में अपना बहुआयामीय व बहुमूल्य योगदान देते रहे हैं। भारतीय कला को गुमनामी व गलतफहमी की स्थिति से उबारने वाले विद्वानो के व्यक्तित्व तथा उनके योगदान की स्मृतियो का पंक्तिबद्ध कर ग्रन्थ रूप में देना एक सर्वोत्तम श्रृद्धांजलि है। एक सच्चा कला को समर्पित पंडित ही श्रद्धा-अर्पण की ऐसी उपयुक्त विधि की कल्पना कर सकता है।

दो शब्द

श्रद्धेय प० बनारसीदास जी चतुर्वेदी इस प्रकार की पुस्तिका को साहित्यिक श्राद्ध कहा करते थे मैं रक्त और भावना के रिश्ते में कोई अन्तर नहीं मानता विगत् शताब्दी से अब तक अनेक देशों के विद्वानों ने हमें अद्भुत ग्रन्थ रत्न प्रदान किए हैं। मैं उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को स्मरण करते हुए उनको भावभीनी श्रद्धांजलि देना चाहता था। इसमें से अनेक मनीषियों ने भारतीय कला की विविध विधाओं, स्थापत्य, मूर्ति-शिल्प, चित्रकला और हस्त-कला आदि पर हमें जो ग्रन्थ दिये हैं, वे हमारी मूल्यवान् सांस्कृतिक धरोहर हैं। यह और बात है कि कुछ विषयों में हम उनके विचारों अथवा निष्कर्षों से सहमत न हों। यह तो होता ही है।

आज जो भारतीय और विदेशी विद्वान् कला-साधना में संलग्न हैं, उनके प्रति मैं कृतज्ञता से नत-मस्तक हूँ और मंगलमय प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वे शतायु होकर भगवती सरस्वती का भण्डार भरते रहें।

मेरी इस सूची में जेम्स फार्गुसन, विन्सेन्ट स्मिथ, पर्सी ब्राउन, एच० जिमर सर जॉन मार्शल तथा जे० पी० एच० वोगल आदि विदेशी तथा अर्द्धेन्दु, कुमार गांगुली, श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय एवं प्रो० नीहार रंजन रे आदि के नामों का भी समावेश किया गया था। लेकिन यह कार्य पूर्ण न कर सका। दिल्ली के लगातार बढ़ते हुए किरायों और वृद्धावस्था में बसों पर यात्रा करने की विवशता से मुझे दिल्ली छोड़ देनी पड़ी। छोटे नगर में सम्बन्धित संदर्भ-सामग्री उपलब्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता। मुझे विश्वास है कि मेरे इस अधूरे छोड़े गए कार्य को कोई समान-धर्मा, कोई कला-धर्मी तरुण आगे बढ़ायेगा। महाकवि भवभूति के शब्दों में 'कालोनिरवधि विपुला च पृथ्वी।'

मैं भारत के संस्कृति-पुरूष डॉ० कर्णसिंह आदरणीया श्रीमती सरला बिड़ला, अध्यक्षा बिड़ला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर, कलकत्ता तथा श्रद्धेया बहन श्रीमती (डॉ०) कपिला वात्स्यायन, सचिव-सदस्या इंदिरा गॉधी राष्ट्रीय कला-केन्द्र, नई दिल्ली का आभारी हूँ जिनके माध्यम से मुझे 'प्रभु-कृपा' ही मिली है।

मैं श्री भगवती प्रसाद काम्बोज का आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक की भूमिका लिखने की कृपा की है।

मैं अपने पितृ-तुल्य अग्रज श्री महेश चन्द्र चतुर्वेदी का आभार व्यक्त करने में अपने को असमर्थ पा रहा हूँ जिन्होंने स्वयं कष्ट सहकर मेरी लेखन की सुविधाओं का ध्यान रखा है।

अनुक्रम

❑❑

डॉ० विनोद प्रकाश द्विवेदी

स्मृति

डॉ० विनोद प्रकाश द्विवेदी

कुछ सालों के अन्तराल में ही डॉ0 विनोद प्रकाश द्विवेदी और मैं इतने निकट आ गए थे, जैसे कि हम बहुत दिनों से, शायद बचपन से ही एक- दूसरे को जानते हों। वे आयु में मुझसे बहुत छोटे थे और उन्हें अपने छोटे भाई जैसा ही मानने लगा था। मुझे अपने उस प्रतिभाशाली, श्रम-शील अनुज की सफलता पर गर्व था। अति व्यस्त होते हुए भी कभी कोई थकान नहीं। चेहरे पर हमेशा एक मुस्कुराहट थिरकती। मुझे उनसे बहुत आशाएँ थीं। आज जबकि मैं उन्हें खो चुका हूँ तब यह अनुभव कर रहा हूँ कि अपने से छोटों के संस्मरण लिखने का कार्य कितना कष्टप्रद है, मर्मान्तक पीड़ादायी है।

जहाँ तक मुझे स्मरण है, उनसे मेरा परिचय श्री रमेशचन्द चतुर्वेदी (मेरे चाचा पं0 गोविन्द प्रसाद जी चतुर्वेदी के सुपुत्र) ने अपने जनकपुरी स्थित आवास पर कराया था। रमेश भैया उन दिनों नई दिल्ली में एक अधिकारी थे और उसी फ्लैट में रह रहे थे, जिसमें पहले द्विवेदी जी का आवास था। फिर वे सुविधा की दृष्टि से पड़ोस के अन्य मकान में चले गए थे। डॉ0 द्विवेदी मेरे पड़ोस के जिले फर्रुखाबाद के थे। उन दिनों सन् 1975 के आस-पास वे राष्ट्रीय संग्रहालय में हस्त- शिल्प विभाग के डिप्टी कीपर (उप-सग्रहालयाध्यक्ष) थे। उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से डाक्टरेट प्राप्त की थी, उनकी शोध का विषय था, "हाथीदाँत का भारतीय शिल्प"। उनमें लखनऊ की तहजीब की महक थी। पहले परिचय में ही उनकी विनम्रता, शालीनता और सहज आत्मीयता ने मेरे मन को छू लिया।

मूर्तिकला का विद्यार्थी होने के कारण मेरी 'हाथीदाँत के मूर्ति-शिल्प' मे रुचि थी। सन् 1959 मे मेरा लेख 'हाथीदाँत का शिल्प' भारत सरकार के प्रकाशन- विभाग के पत्र 'आजकल' मे प्रकाशित हो चुका था। बाद में उस लेख का समावेश मेरी पुस्तक 'कला के पद्म' (1961) मे भी हुआ था। सर जॉन हाट के ग्रन्थ 'इंडियन आर्ट इन देहली' (1903) और श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय के हस्त शिल्प सम्बन्धी ग्रन्थों ने इस दिशा में मेरी और भी जिज्ञासा जाग्रत कर दी थी।

उसके बाद मैं जब भी राष्ट्रीय सग्रहालय जाता, उनसे मिले बिना न आता। नेशनल म्यूजियम के तत्कालीन कीपर (अध्यक्ष) डॉ0 सी0 शिवराम मूर्ति अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् थे। वे मेरे पूज्य आचार्य डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल के अतरग मित्र थे। भारत के राष्ट्रीय संग्रहालय के संस्थापकों के रूप मे इतिहास इन दोनो

अवरुद्ध भेजा गया। जाने से पहले मैं डॉ0 शर्मा से भी मिला। उन्होंने मुझे एक मूल्यवान सलाह दी। उन्होंने कहा, "काठमाण्डू पाटन और भाद गाँव (भक्तपुर) के संग्रहालयों में जाकर वहाँ प्रस्तर, धातु या काष्ठ-कला की मूर्तियों की सूची अवश्य तैयार करना। आजकल मैं उन कला कृतियों की सूची तैयार कर रहा हूँ जो किसी समय भारत से बाहर चली गई। हो सके तो तुम नेपाल की ऐसी ही कलाकृतियों की विवरणात्मक सूचियाँ तैयार करना।" मैंने उनकी मूल्यवान् सलाह का कार्यान्वित भी बड़े श्रम से कर लिया। आधार विदेशी संग्रहालयों के कैटलॉग, पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ थीं, लेकिन आज डॉ0 शर्मा कहाँ हैं? वे अपने आराध्य शिव में विलीन हो चुके हैं।

मेरे पास उनकी एक अति दुर्लभ स्मृति शेष है। उनका उस समय का चित्र, जब वे भारतीय कला की प्रदर्शनी लेकर 'मान्ट्रियल' गए थे। उनके तथा किसी अन्य विद्वान के बीच में भगवान् शिव की एक कलापूर्ण प्रस्तर प्रतिमा है। डॉ0 शर्मा का 'इण्डियाज कन्ट्रीब्यूशन टू वर्ल्ड थॉट एण्ड कल्चर' (मद्रास) में प्रकाशित एक लेख 'शिव आइकन्स ऑफ नेपाल' वहाँ मेरा मार्ग दर्शक बना था।

डॉ0 बी0 एन0 शर्मा और डॉ0 विनोद प्रकाश द्विवेदी से मेरे सम्बन्ध प्रगाढ़ होते गए। इन लोगों ने मुझे अपने लेखों के 'ऑफप्रिंट्स' देने की कृपा भी की। यदि यह विद्वान जीवित रहते तो भारतीय कला, संस्कृति और इतिहास के भण्डार को न जाने कितनी मणियाँ दे जाते। दुःख तो यही है कि दोनों का आकस्मिक, निधन हो गया। 'ये गुच्छे तो बिना खिले तो नहीं रहे पर दिक् दिगन्त में अपनी पूरी सुरभि बिखेरे बिना ही चले गए। इन गम्भीर जिम्मेदारियों के बाद भी इतना शोधपूर्ण, श्रम साध्य लेखन!'

सन् 1975 में मुझे भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली ने सीनियर रिसर्च फैलोशिप दी। संस्था के नियमों के अनुसार मुझे किसी मान्य संस्था से सम्बद्ध होने के लिए कहा गया। मैं भारतीय विद्या संस्थान (इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डालाजी), दरियागंज से सम्बद्ध हो गया। संस्थान के संस्थापक डॉ0 धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री ने वहाँ इस शर्त पर आवास देने की कृपा की कि संस्थान के पी एच0 डी0 के उन छात्र छात्राओं को, जिनका विषय कला से सम्बन्धित है, शोधकार्य में सहायता दूँगा। भारतीय विद्या संस्थान अक्सर अपने यहाँ किसी विद्वान् के व्याख्यान का आयोजन करती थी और उसमें दिल्ली के गण्यमान्य विद्वानों तथा बुद्धिजीवियों को आमन्त्रित करती थी। अगला व्याख्यान श्रीकृष्ण जन्माष्टमी पर आयोजित हुआ। वक्ता थे राष्ट्रीय संग्रहालय के प्रख्यात् विद्वान् डॉ0 प्रियतोष बैनर्जी। पिछले दिनों इसी विषय 'श्रीकृष्ण और भारतीय कला' पर उनका एक और विशद ग्रन्थ भी राष्ट्रीय के विभाग द्वारा

प्रकाशित की थी। मेरे मन में यह विचार आया कि मेरी पुस्तक 'कुमारस्वामी स्मृति ग्रन्थ' के रूप में प्रकाशित हो, जिसमें उनका चित्र भी हो। मेरे आदरणीय मित्र भी इस अवसर पर दिवंगत विद्वान को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करें।

जब मैंने डा० विनोद प्रकाश द्विवेदी के सामने अपना यह विचार रखा तो उन्हें यह पसन्द आया। उन्होंने इन शब्दों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की--

"As a student of Indian art, all of us owe so much to Coomaraswamy. There is hardly any aspect of Indian art, which has not received the golden touch of his pen. My special interest being 'The Decorative Art of India', I find that Dr. Coomaraswamy's writing have coverd even the most obscure corners of the field. This pioneering work 'Arts and Craft of India and Ceylon' (London 1913) still remains a most authoritative work on the subject. There he has stated, 'An adequate history of Indian work in ivory still remains to be written and perhaps no other craft would throw more light on the story and migrations of designs in India than this.'

Inspired by his essay and that of Dr. Motichandra's writings I started my researches in Indian ivories and I am glad, I could fulfil his desire with the publication of my work 'Indian Ivories' (Delhi, 1976). I humbly remember him on this occasion and bow my head to his sacred memory."

डा० द्विवेदी ने 'इण्डियन आइवरी' की ही रचना नहीं की अपितु इस विषय पर अनेक महत्त्वपूर्ण लेख भी लिखे। उन्होंने अपने शोध-पत्र 'इण्डियन एक्सपर्ट्स ऑफ आइवरीज कार्विंग्स टू रोमपियन एण्ड एशियन कन्ट्रीज' की एक मुद्रित प्रतिलिपि मुझे दी थी। यह लेख मूलतः 'शेरवानी वाल्यूम' हैदराबाद में प्रकाशित हुआ था। भारतीय हाथीदाँत के अनेक प्राचीन नमूने न केवल मोहनजोदड़ो तथा उज्जैन आदि प्राचीन नगरों की खुदाई में मिले हैं अपितु रामायण तथा महाभारत आदि में इस शिल्प के उल्लेख मिलते हैं।

इस लेख में प्रारम्भिक काल से लेकर सन् 1200 ईसवी तक के हाथीदाँत के शिल्प के उद्भव और विकास का इतिहास दिया गया है और इसमें इटली, अफगानिस्तान, चीन, जापान, मध्य एशिया, तिब्बत और प्राचीन अरब देश में हाथीदाँत के भारतीय शिल्प का शोधपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। हाथीदाँत

---

1 एन्शिएण्ट इण्डियन आइवरीज ऑफ वेस्टर्न इण्डिया, बम्बई संख्या 6 (1957-58) पृष्ठ 4-63, 33 चित्र

–एन आइवरी फिगर फ्राम तेर, ललितकला, नई दिल्ली, स0 8, अक्टूबर 1960 पृष्ठ 7 1 3 चित्र

[illegible] में [illegible] के शिल्प पर ही उनका एक लेख फ्रेंच में छपा था।

[illegible] प्रकाश द्विवेदी ने हाथी दाँत के मूर्ति शिल्प पर कई वर्ष तक [illegible] के कारण वे इस कला के विशेषज्ञ माने जाने लगे।

और उनका सम्बन्ध कई वर्षों तक चलता रहा। कभी-कभी हम लोग [illegible] फोन पर कुशल समाचार पूछ लेते थे वे यह जानते थे कि डॉ० कुमारस्वामी पर मेरी [illegible] सन 1978 को 13 मार्च को मुझे उनका [illegible] मिला।

प्रिय चतुर्वेदी जी

सादर नमस्कार

आशा है कि यह पत्र आपको प्रसन्न चित्त पायेगा। काफी समय से आपका कोई समाचार नहीं मिला है। आशा है कि आपका कार्य ठीक से चल रहा होगा।

इस बीच Dr Coomaraswamy सम्बन्धी एक पुस्तक अमरिका से प्रकाशित हुई है। सोचा कि आपको सूचित कर दूँ।

Roger lipsey (ed by)

Coomaraswamy His life and works

Princeton University press New Jersey 1977

पुस्तक तीन भागों में छपेगी और मुख्यतः डॉ० कुमारस्वामी के ही लेखों का संग्रह होगा जिस पर वे अपनी टिप्पणियाँ छोड़ गए थे।

आशा है कि आप अपनी पुस्तक की भूमिका में इन सब प्रकाशनों और समाचार का उल्लेख करेंगे।

आपने कहा था कि 'संस्कृति' में छपे मेरे लेख वाली प्रति मुझे दे देंगे। क्या निकट भविष्य में दे सकेंगे? मैं इस काम को आगे बढ़ाना चाहता हूँ।

शेष आनन्द है। कभी समय निकाल कर पत्र लिखें या टेलीफोन करें।

आपका अपना

विनोद प्र० द्विवेदी

सूचना के लिए उनका आभार व्यक्त करते हुए मैंने अपने संग्रह में से 'संस्कृति' की वह प्रति उनको भेज दी। जिसमें उनका लेख 'बुन्देलखण्ड के कवि और चित्रकार मतिराम' छपा था।

डॉ० विनोद द्विवेदी आयु में मुझसे बहुत छोटे थे। उनका जन्म एक प्रतिष्ठित और धर्मनिष्ठ परिवार में 7 जुलाई 1936 को हुआ था। यह बात मेरे मन में एक संताप और गर्व भरती थी कि नौकरी में रहते हुए भी, उन्होंने कितने कम समय में कितना अधिक स्तरीय कार्य किया है। सन् 1973 में लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा उनका शोध-ग्रन्थ 'बोन एण्ड आयवरी कार्विंग्स इन एनशिएन्ट इन्डिया' स्वीकृत हुआ था इसके बाद भी कई वर्ष तक वे अपने इस शोध ग्रन्थ में

सदस्यता भी उन्हीं की। 'भारतीय पुरातत्व की अखिल भारतीय संस्था 'इण्डियन आर्कयालॉजिकल सोसाइटी' से वे प्रारम्भ में ही जुड़ रहे। सच तो यह है कि वे एक व्यक्ति नहीं अपने आप में एक संस्था थे।

उनके शोध-ग्रन्थ 'इण्डियन आयवरी' का उल्लेख हम कर चुके हैं। उनकी अन्य महत्वपूर्ण पुस्तक 'बारहमासा' है। भारतीय चित्रकला में जिस प्रकार राग-रागिनियों का चित्रण मिलता है, उसी प्रकार उसमें विविध ऋतुओं का रसमय अंकन प्राप्त होता है। यह विषय भी नया था। जिस पर उनकी दृष्टि गई। इस पुस्तक की भूमिका श्रीमती (डॉ0) कपिला वात्स्यायन ने लिखी है। माडर्न म्युजियम नामक अति उपयोगी ग्रन्थ उन्होंने तथा श्रीमती स्मिता जे0 बक्शी ने मिलकर लिखा। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त उनकी अन्य पुस्तक 'ए ब्रीफ गाइड टू दी महाराज बनारस विद्या मन्दिर म्युजियम' है।

उनके लेख विश्व के लब्ध प्रतिष्ठ पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। ललित कला-नई दिल्ली, ईस्ट एण्ड वैस्ट रोम, ओरिएण्टल आर्ट-लंदन, हैमिस्फियर कैनबरा, ओरिएण्टेशन-हांगकांग तथा अन्य कला-पत्रिकाओं में उनके पचास से भी अधिक लेख बिखरे पड़े हैं।

उनका हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। हिन्दी तो उनकी अपनी मातृभाषा ही थी। उनके मूल हिन्दी लेख, साप्ताहिक हिन्दुस्तान नई दिल्ली, 'धर्मयुग', बम्बई, 'दिनमान' और 'संस्कृति' नई दिल्ली तथा हिमप्रस्थ शिमला आदि में प्रकाशित हुए हैं।

उनके लेखन का क्षेत्र बहुत व्यापक था। 'कल्चरल फोरम' नई दिल्ली में मुझे उनका एक लेख नेपाल की काष्ठ-कला पर देखने को मिला।

आज आवश्यकता इस बात की है कि उनके सभी लेखों को एकत्रित किया जाय और विषय के अनुसार ग्रन्थ रूप दिया जाय।

❑❑
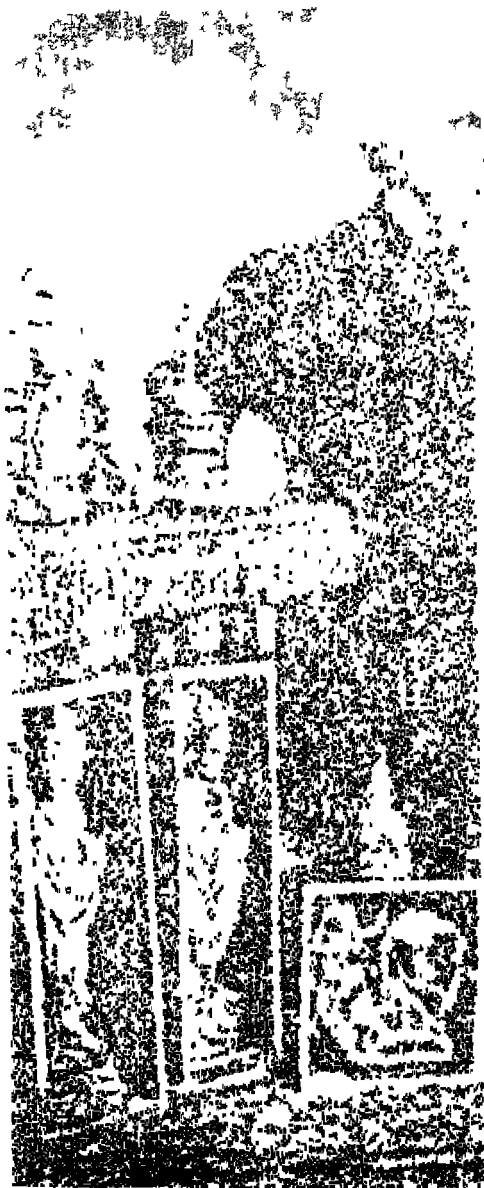
सर अलीकजैंडर कनिंघम

सर अलैक्जैण्डर कनिंघम

आज से सवा सौ वर्ष पहले, जब उत्तर भारत की तेज, गर्मी और लू से ठण्डे देश के निवासी अंग्रेज शिमला, मसूरी या दार्जिलिंग में विश्राम कर रहे होते तब अधेड़ आयु का एक अंग्रेज उच्चाधिकारी अपने सहयोगियों और कर्मचारियों के साथ तेज लू के थपेड़े खाता हुआ, घोड़ा गाड़ी पर लम्बी-लम्बी यात्रायें किया करता। आज जैसी रेलगाड़ी, मोटर अथवा हवाई यात्रा की सुविधा तो गत शताब्दी में थी नहीं, केवल धर्मपरायण यात्री तीर्थों की यात्रा करने के लिए घर से निकलते थे। यह अंग्रेज अधिकारी थे, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के प्रथम महानिदेशक सर अलैक्जैण्डर कनिंघम। वे इस महाकाय देश के प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व कला और संस्कृति की खोज के महाअभियान को निकले थे। चीन के महाश्रमण फाहियान और ह्यूनत्सांग के भ्रमण-वृतांत उनके मार्ग दर्शक थे। प्राचीन भारतीय भूगोल का वह अत्यन्त मनोयोग पूर्वक अध्ययन कर चुके थे।

कनिंघम साहब को जहाँ कोई पुराना किला, मन्दिर मस्जिद या सती स्तम्भ आदि वस्तु स्मारक दिखाई देता वे अपने साथ के लोगों को रोक देते। कारवान, गाड़ी को खोलकर उन्हें खाना खाने दते तथा व्यवस्था में लग जाते। कनिंघम महोदय बिना एक क्षण भी विश्राम किए उस कला तीर्थ में प्रवेश करते। वे उसके शिल्प सौन्दर्य को देखकर अतीत में खो जाते जब वे उस दिवा स्वप्न से जागते तब उस पुरातन देवालय के भवन और सूक्ष्म कटावयुक्त स्तम्भों का निहारने, मन्दिर के महामण्डप जगमोहन और प्रतिमा-स्थापना के स्थल गर्भ गृह आदि का फीता लेकर मापते। वास्तु स्मारक किस काल का है? किस वास्तु शैली का है? वहाँ प्रतिष्ठित प्रतिमा किस आराध्य की है। वे ही मन्दिर में पूजित या खण्डित देव प्रतिमायें, उनके वाहन आयुध तथा मुद्राओं को देखते और उसे लिखते जाते।

यदि किसी वास्तु-स्मारक में उन्हें, हिन्दी संस्कृत या फारसी का कोई लेख दिखलाई दे जाता तो उनकी आँखें प्रसन्नता से चमक उठती। लगता कि उन्हें किसी दुर्लभ खजाने की चाबी मिल गई है। वे उसे ध्यान से पढ़ने लगते थे। भारत आकर कई वर्षों के कठोर अध्यवसाय से वे इन भाषाओं से ही नहीं उनकी पुरानी लिपियों से भी भली-भाँति परिचित हो चुके थे। तभी चपरासी आकर उनकी इस तल्लीनता को भंग करता "हुजूर! लन्च तैयार है।"

उस सेनाधिकारी ने सिक्ख-युद्ध में भाग लेने के पश्चात् सेना छोड़ दी थी फिर भी उसका सारा कार्य युद्ध-स्तर पर ही चल रहा था, कहीं विश्राम नहीं पर थकान भी नहीं। जब वह उस वास्तु स्मारक का प्लान तैयार करके, उसके अभिलेखों की छाप लेकर तथा प्रतिमाओं के फोटो लेकर, वह वहाँ का काम पूरा कर चुकता तब वह आस पास के गाँवों में जाकर देखता कि कहीं कोई पुरा सामग्री वहाँ शेष तो नहीं है?

सर अलेक्जेण्डर कनिंघम पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने भरहुत, साची तथा बोधगया के प्रारम्भिक बौद्ध मूर्ति-शिल्प पर ग्रन्थ लिखे हैं और पुरातत्व के भवन की आधार-शिला रखी है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'ज्योग्राफी ऑफ एन्शियन्ट इण्डिया' में पुराने स्थानों की पहचान की है और चीन के महापर्यटक फाहियान और हुएनत्सांग के भ्रमण-वृत्तान्तों के हवाले देकर अपने मत की पुष्टि की है। 'कार्पस इन्सक्रिप्शन' के प्रथम खण्ड में उन्होंने सम्राट् अशोक के शिला-लेखों पर अपना पाठ तथा अध्ययन दिया है। मुद्राशास्त्र पर उन्होंने चार अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थों को देकर अमिट कीर्ति अर्जित की। यह ग्रन्थ हैं--'क्वाइंस ऑफ एन्शिएन्ट इंडिया', 'क्वाइंस ऑफ मिडिवल इंडिया', 'क्वाइंस ऑफ अलेक्जेंण्डर्स सक्सेसर्स इन दि ईस्ट' तथा 'क्वाइंस ऑफ इंडोसिथियन्स शक एण्ड कुषर (कुषाण)।'

उनका दूसरा ग्रन्थ 'इंडोसिथियन्स' उनका इतिहास विषयक ग्रन्थ है। उनकी इतिहास की अन्य पुस्तक 'बुक ऑफ इंडियन ऐराज़' है। उन्होंने अपने समय की प्रमुख शोध-पत्रिका 'एशियाटिक रिसर्चेज़' में पुरातत्व सम्बन्धी जो लेख लिखे हैं, उनका संकलन तीन बड़े बड़े खण्डों में हुआ है। कनिंघम साहब का ग्रन्थ 'लद्दाख' अपने ढंग की पहली, अद्वितीय पुस्तक है। वह कश्मीर के भू खण्ड 'लद्दाख' के बौद्ध गुम्फा (मठ), उनकी कला-निधि और बौद्ध-संस्कृति का एक सजीव चित्रण है। इस ग्रन्थ की उपादेयता और महत्व को आज सौ वर्ष के बाद भी स्वीकार किया जाता है। जिन दिनों श्री जवाहर लाल नेहरू इलाहाबाद की नैनी जेल में थे, उन दिनों उन्होंने इस ग्रन्थ को आद्योपांत पढ़ा था। चीन ने जब भारत पर आक्रमण किया और लद्दाख के सीमा-क्षेत्र सिक्याग में नई सडक निकाली, तब नेहरू जी ने इस ग्रंथ को पुनः देखना चाहा। उन्होंने इलाहाबाद की अल्फ्रेड पार्क लायब्रेरी के सेक्रेटरी प्रो० देव को उसे तत्काल भेजने को पत्र लिखा और वह पुस्तक उनको भेजी गई।

राजनैतिक दृष्टि से लद्दाख का अपना एक विशेष महत्व है। उसकी पूर्वीय सीमा तिब्बत के रूडोक और नगारी जिलों से मिलती है और उत्तरी सीमा सिक्याग या चीनी तुर्किस्तान से। भारत चीन युद्ध से पहले लद्दाख की राजधानी लेह ऊन की एक बडी मंडी मानी जाती थी। रूस, चीन और तिब्बत के व्यापारी तूश और पशमीना जैसी मंहगी ऊन की खरीद के लिए लेह आते थे। अंग्रेजो के शासनकाल में लेह में एक अंग्रेज अधिकारी 'ब्रिटिश ज्वाइंट' कमिश्नर रहा करता था, वही यात्री को लद्दाख मे प्रवेश करने के लिए पासपोर्ट जारी करता था। अन्यथा तिब्बत की भाँति लद्दाख में भी प्रवेश वर्जित था। इस दृष्टि से सर अलैक्जैण्डर कनिंघम का ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

यह सोचकर बहुत आश्चर्य होता है कि प्रारम्भ में सर अलैक्जैण्डर कनिंघम का कार्य क्षेत्र पुरातत्व नही था। वे मूलत: एक सेना-नायक थे और उन्होंने द्वितीय सिक्ख युद्ध में भाग भी लिया था फिर भी भारतीय राजवंशों का

सकारात्मक ही नहीं दिए, अपितु कनिंघम, हैवल, ग्राउस, फार्गुसन, हुल्श, फ्लीट विन्सेन्ट स्मिथ और सर जॉन मार्शल जैसे विद्वान भी दिए हैं जिनके भारतीय इतिहास, पुरातत्व कला और संस्कृति सम्बन्धी ग्रन्थों का हमें भारतीय भाषाओं में अनुवाद करना है। उनके और हमारे दृष्टिकोण में अन्तर हो सकता है परन्तु उनकी निष्ठाभरी विद्या साधना से इन्कार नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से हम भारतीय उनके सदैव ऋणी रहेंगे।

सन् 1862 ई० में कनिंघम साहब भारतीय पुरातत्व विभाग में सर्वेयर के पद पर नियुक्त हुए। उन्होंने सन् 1862 से लेकर सन् 1865 तक भारत के विभिन्न प्रदेशों की यात्राएँ कीं। उनकी इस यात्रा की सम्मिलित रिपार्ट, जो आठ सौ पृष्ठों से भी अधिक की है, सन् 1871 में दो खण्डों में प्रकाशित हुई। इस अभियान में उनके साथ कोई सहायक नहीं था। इस कार्य को पूर्ण करके सन् 1865 में कनिंघम महोदय इंग्लैण्ड चले गए। उन्हीं दिनों लार्ड केनिंग भारत में गवर्नर-जनरल होकर आए। भारत और उसकी प्राचीन सांस्कृतिक गरिमा के प्रति उनके मन में लगाव था। उन्हें कनिंघम साहब का किया हुआ पुरातत्व-सर्वेक्षण का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण लगा। उन्होंने इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए एक बड़ी योजना की स्वीकृति दे दी। इस योजना के ही अन्तर्गत कनिंघम साहब को लन्दन से वापस बुला लिया गया। लार्ड केनिंग के शब्दों में इस योजना का उद्देश्य था-

"इस कार्य का उद्देश्य यह है कि प्राचीन स्मारकों का यथावत् प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत किया जाय। इसमें फोटो, रेखा चित्र और मान-चित्रों का भी आवश्यक रूप से समावेश किया जाए। जो भी महत्वपूर्ण अभिलेख मिलें उन्हें इसमें शामिल करना आवश्यक है। इस सब के साथ इतिहास की उस सामग्री को भी दिया जाय जो वहाँ परम्परा से सुरक्षित रही है।"

लार्ड केनिंग के इन शब्दों के साथ ही रिपोर्ट के प्रथम पृष्ठ पर प्रिंसेप महोदय का मत भी दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि अलैक्जेण्डर कनिंघम, जेम्स प्रिंसेप महोदय और उनकी राय का कितना आदर करते थे। जेम्स प्रिंसेप ने लिखा है--

"संसार का विद्वत् समाज हम से यह अपेक्षा करता है कि हम भारत का यथार्थ परिचय, उसकी वास्तविक छवि उसके समक्ष प्रस्तुत करें और उसके स्मारकों का प्रामाणिक लेखा-जोखा परिष्कृत रूप में उसके सामने रखें।"

इस छोटे से लेख में कनिंघम महोदय की कृतियों का, उनकी देन का आकलन सम्भव नहीं है। लेकिन कुछ ग्रन्थों पर दो शब्द- उनके ग्रन्थ 'भरहुत' को ही ले लें। भरहुत अथवा भारमुक्ति उस प्राचीन मार्ग पर पड़ता था जो श्रावस्ती से कौशाम्बी होकर महाकोशल को जाता था। गत शताब्दी में जब कनिंघम साहब ने उस महास्तूप को देखा तब सदियों की उपेक्षा और सर्दी-गर्मी

काला ने अपनी पुस्तक 'भरहुत वेदिका' की रचना की। प्रयाग संग्रहालय में कुछ ऐसे दृश्य भी हैं जिनका धर्म से दूर का भी नाता नहीं है। जैसे एक के ऊपर एक खड़े होकर पिरामिड बनाए हुए लोग। कनिंघम साहब के चित्रमय ग्रंथ में जातक कथाओं के अलावा एक गोल फुल्ले (खिले कमल) भी दिए हैं, जिनके बीच मे राजा, रानी तथा अनेक प्रकार की इतनी अलंकृतियाँ हैं कि शिल्पियो की कल्पना शक्ति पर आश्चर्य होता है। कनिंघम साहब के अलावा श्री बी0 एम0 बरुआ ने भरहुत पर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है। जो विशेष रूप से जातक-कथाओं पर आधारित है। श्री (डॉ0) आनन्द के0 कुमार स्वामी ने अपना भरहुत सम्बन्धी ग्रन्थ फ्रेंच भाषा में प्रस्तुत किया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि कनिघम साहब का 'दि स्तूप ऑफ भरहुत' अपने ढंग का अद्भुत ग्रन्थ है।

सर अलैक्जैण्डर कनिघम का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है 'दि भिलसाटोप्स'। भिलसा (विदिशा) के आस-पास साँची के स्तूप, भोजपुर, सोनारी, शतधार स्थित हैं। इनमें साँची के स्तूप जो मूल-रूप से मौर्यकालीन हैं, शुंगकाल मे परिवर्द्धित हुए। उनके शिल्प-खचित तोरण-द्वार सातवाहन काल के नृपतियो के कला प्रेम के अप्रतिम साक्षी हैं। इस विशाल ग्रन्थ में कनिंघम महोदय ने साँची के शिल्प पर चर्चा करने से पहले भगवान् बुद्ध और उनके बौद्ध धर्म पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। इससे यह ग्रन्थ बौद्ध धर्म का कोश सा बन गया है। इसमे साँची की गुप्तकाल तक की वस्तु कृतियों का समावेश है। साँची पर श्री मैसे, श्रीयुत जेम्स फर्गुसन तथा सर जॉन मार्शल आदि विद्वानों ने अपने मूल्यवान् अध्ययन ग्रन्थ रूप में प्रस्तुत किए हैं। कनिंघम महोदय की 'दि भिलसा टोप्स' इस श्रृंखला की प्राथमिक कड़ी है।

सर कनिंघम की 'महाबोधि' उनका तीसरा महत्वपूर्ण आधार-ग्रन्थ है। भगवान बुद्ध ने गया के निकट उरुवेला में बुद्धत्व अथवा सम्बोधि प्राप्त की थी अतः यह स्थान विश्व भर के बौद्धों का एक पवित्रतम तीर्थ है। जिस आसन पर बैठकर गौतम बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया उसे 'बोधिवृक्ष' कहा गया है। यहाँ पूर्वकाल में सम्भवतः काष्ठ का देवालय था, जिसे सम्राट अशोक के शासन मे पाषाण का रूप दे दिया गया। भरहुत के द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व के शिल्प मे इस मन्दिर का शिल्पांकन मिला है और उसे कनिघम महोदय ने अपने ग्रंथ भरहुत मे प्रकाशित भी किया है। मूल मन्दिर का बार-बार निर्माण होता गया। इसमें बर्मा वासियों ने भी कालान्तर में योगदान किया, यह वहाँ के एक अभिलेख मे स्पष्ट है। यहाँ शुंग काल की एक शिल्प खचित वेदिका का खण्ड-भाग सुरक्षित है। कनिंघम महोदय ने इस मन्दिर का क्रमबद्ध इतिहास प्रथम बार पाठको के सम्मुख रखा और वेदिका के शिल्प की कृतियों और अलंकरणों तथा अभिप्रायों पर विस्तार से चर्चा की, बोधगया के इस शिल्प मे सूर्य तथा इन्द्र का अकन भी मिला है।

सर अलैक्जैण्डर कनिघम को अपने सर्वेक्षण मे अनेक मूल्यवान् कलाकृतियाँ

फ्रैड्रिक सीमन ग्राउस

विद्वत् विभूतियों की सुगन्ध किसी एक देश तक सीमित नहीं होती। मेंहदी के फूलों की गन्ध की भाँति, वह दिग्-दिगन्त को सुवासित करती है। श्री एफ0 एस0 ग्राउस मूलतः इंग्लैण्ड के थे और बंगाल सिविल सर्विस के आई0 सी0 एस0 ऑफिसर थे। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरित मानस' का अंग्रजी भाषान्तर किया और वर्षों की अनवरत खोज के पश्चात् 'मथुरा : ए डिस्ट्रिक्ट मैमायर' जैसा प्रामाणिक ग्रन्थ दिया। वस्तुतः यह ग्रन्थ मथुरा के इतिहास में कला संस्कृति का एक कोश है जिसकी प्रामाणिकता और उपयोगिता उसके लेखन के सौ वर्ष पश्चात् आज भी स्वीकार की जाती है।

आश्चर्य होता है कि जो सौन्दर्य-बोध और कला-दृष्टि हम भारतीयों को भी किसी पूर्व पुण्य से ही मिल पाती है वह हैवल, फार्बस और ग्राउस जैसे विदेशियों को कैसे सहज ही मिल गई? उन्होंने भारतीय कला और प्राच्य-विद्या के नये नये पृष्ठ कैसे खोल दिये? हम भारतीय इन विद्वानों के आभारी हैं जिन्होने भारत के आंगन में बैठकर उसकी गौरवशालिनी संस्कृति की साधना की। एक बीस वर्ष का अंग्रेज तरुण जो विश्वविद्यालय से एम0 ए0 करके आया था भारतीयता के, ऐसे गहरे रंग में कैसे रंग गया? उन्होंने मैनपुरी, मथुरा, बुलन्दशहर और फर्रुखाबाद में कलक्टर और जिला मजिस्ट्रेट के रूप में कार्य किया और वहाँ अमिट स्मृतियाँ छोड़ गए।

जिन दिनों मैं 'भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्' नई दिल्ली की 'सीनियर रिसर्च फैलोशिप' पर दिल्ली में कार्य कर रहा था और भारतीय कला की 'बिब्लियोग्राफी' तैयार कर रहा था, मुझे ग्राउस साहब का एक लेख "तारकशी और वायर इल्लियिंग : एज प्रैक्टिस्ड बाई कारपैन्टर्स ऑफ मैनपुरी"[1] देखने का मिला। लेख 19 चित्रों से अलंकृत है। लेख को तो पुस्तकालयाध्यक्ष श्री के0 आर0 सचदेव ललित कला अकादेमी, नई दिल्ली की अनुमति लेकर मैंने टाइप कर लिया किन्तु अब तक चित्र इतने फीके पड चुके थे, कि उनके फोटो स्पष्ट नहीं आते।

ग्राउस साहब हिन्दी, संस्कृत और फारसी के अच्छे जानकार थे। अंग्रेजी तो उनकी मातृभाषा थी। हिन्दी के प्रति उनके मन में गहरा सम्मान था। साथ ही वे एक उदारमना व्यक्ति भी थे। वे वर्ष में एक बार कवि--सम्मेलन का आयोजन करते थे। हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार पं0 श्रीनारायण जी चतुर्वेदी ने लिखा है--

"काशी के बाहर ग्राउस साहब ही वर्ष में एक बार समस्या पूर्ति कराकर

---

[1] इण्डियन आर्ट एण्ड इण्डस्ट्री लंदन खण्ड 2 अंक 22. 1888

फ्रेडरिक सीमन प्राउज़

एक समारोह करते थे तथा कवियों को दुशाला, घड़ी, चित्र और नकद रुपये भेंट करते थे। उनकी समस्या पूर्ति करने वाले ऐसे दिग्गज भी थे जैसे श्रीधर पाठक महावीर प्रसाद द्विवेदी और नाथूराम शर्मा 'शंकर'।''[1]

फ्रैड्रिक सीमन ग्राउस का जन्म दक्षिण पश्चिम इग्लैण्ड में विलडेस्टन के निकट सन् 1837 में हुआ था। वे अपने पिता श्रीयुत राबर्ट ग्राउस के तृतीय पुत्र थे। अपने विद्यार्थी जीवन में वे एक प्रतिभाशाली छात्र रहे थे। तभी से वे भारत का सपना देखते थे। सन 1860 में वे कलकत्ता आ गए और बगाल सिविल सर्विस में उनका चयन हो गया। इससे पहले तत्कालीन गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज के संरक्षण में चार्ल्स विल्किन्स के सद्प्रयास से एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हो चुकी थी।[2] विल्किन्स के सहयोगी थे सर विलियम जोन्स जो कलकत्ता के उच्च न्यायालय के न्यायधीश थे। उनका नाम भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा के प्राण प्रतिष्ठा करने वाले के रूप में लिया जाता है। जोन्स साहब ने संस्कृत पण्डित से विधिवत् संस्कृत भाषा सीखी थी और महाकवि कालिदास के शाकुन्तलम् का अंग्रेजी अनुवाद किया था। सन् 1784 ई0 में संस्थापित एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता में साहित्य, संस्कृति, कला और विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण शोध का कार्य कर रही थी। कलकत्ता आकर ग्राउस साहब एक सदस्य के रूप में इस संस्था से जुड़ गए। उनके मन में जो विचार अकुर बन पड़ा था उसे पल्लवित और पुष्पित होने का एक अवसर मिला।

सन् 1860 से 1863 तक सम्भवतः ग्राउस महोदय कलकत्ता में रहे किन्तु जैसा उनके 'तारकशी' के लेख से स्पष्ट है, सन् 1864 ई0 मे वे उत्तर प्रदेश के एक छोटे से नगर मैनपुरी मे असिस्टेन्ट मजिस्ट्रेट के रूप में नियुक्ति हुए। तब उनका ध्यान मैनपुरी की तारकशी की कला और उसके विकास की सम्भावना के प्रति आकृष्ट हुआ। श्री एफ0 एस0 ग्राउस ने 1888 में प्रकाशित अपने लेख में मैनपुरी नगर और उसके चौहान राजवंश के सम्बन्ध में लिखा है--

''मैनपुरी पश्चिमोत्तर प्रान्त की आगरा कमिश्नरी का जिला था। उसके पूर्व में गगा और पश्चिम में जमुना उसे उपजाऊ बनाये थी, जनपद की जलवायु

---

1 'बिन ढोंढ़े मैंने पायकी' (श्री रायकृष्ण दास के संस्मरण) भारतीय कला दृष्टि, सम्पादक सच्चिदानन्द वात्स्यायन, प्रभात प्र0 नई दिल्ली, पृष्ठ14

2. कादम्बिनी, नई दिल्ली, 'अंग्रेज अफसर ने रामचरित मानस का अनुवाद किया' लेखक राकेश वाजपेयी. जून 1985 पृष्ठ 113

3. ''चार्ल्स विल्किन्स ने सन् 1785 में 'श्रीमद् भगवत् गीता' का अनुवाद किया है। बाद में उन्होंने 'हितोपदेश' (1787) और 'महाभारत' का 'शाकुन्तला पाख्यान' (1795) भी प्रकाशित कराया।

भारतीय संस्कृति और विश्व सम्पर्क डॉ0 दामोदर सिंहल पृष्ठ 280

लिखते थे। चौकोर, खानेदार छोटी-छोटी डिब्बियाँ जिनके ऊपर तारकशी का काम किया जाता था, गृहिणियों को प्रिय थी।

मैनपुरी आने पर ग्राउस साहब का ध्यान काष्ठ और पीतल की इस कला की ओर गया। उन्होंने सोचा कि यदि इस कला में विदेशी अधिकारियों की रुचि जाग्रत की जाय तो निश्चित ही सामग्री की माँग बढ़ेगी और इससे कारीगरों की आर्थिक स्थिति भी सुधरेगी। विदेशियों को खड़ाऊँ और कलमदान में भला क्या अभिरुचि हो सकती थी? उन्होंने लिखा है -

"परम्परागत नमूने बहुत कम थे और उनमें भी जाली का आधिक काम था। उसमें से कोई वस्तु योरोपीय ग्राहक की पसन्द की न थी। मैं अपने जीवन के इस काल में प्राच्य-कला का एक अध्येता था। साथ ही मेरी उस गोथिक शैली में भी दिलचस्पी थी, जो उन दिनों इंगलैण्ड में अपने उत्कर्ष पर थी। मैंने गोथिक शैली का एक नमूना तारकशी में उतरवाया। यह कार्य नरोत्तम नामक कारीगर ने किया। उसका वह नमूना (किताबें रखने का बुक स्टैण्ड) लन्दन भेजा गया और वहाँ वह काफी पसन्द भी किया लेकिन जब उस नमूने की अन्य प्रतिकृतियाँ तैयार हुई तो वे उत्तरोत्तर घटिया होती गई। अन्य नमूनों का हाल भी यही हुआ। भारतीय कारीगर गोथिक कला की मूल-भावना और शैली को पकड़ने में असमर्थ रहे। ग्राउस साहब को अपनी भूल समझ में आ गई और उन्होंने अपना ध्यान भारतीय डिजाइनों या अलंकृतियों पर केन्द्रित कर देना ही उचित समझा।

ग्राउस महोदय ने स्थानीय कारीगर नरोत्तम और दुर्गा को वेतन भोगी कर्मचारी के रूप में रक्खा और दुर्गा, चुन्नी, बिहारी तथा अन्य कारीगरों को भी लगातार प्रोत्साहन देकर उनमें तारकशी की कलात्मक वस्तुएँ बनवाते रहे। उन्होंने ऐसा सामान बनवाना शुरू कर दिया, जिसमें योरोपियनों की रुचि हो सकती थी, जैसे लिखने की खानेवाली मेज, फोटो-फ्रेम, अण्डाकार शीशे तथा अन्य वस्तुएँ। किन्तु तारकशी के अलंकरण या रूपकृतियाँ पूर्णतः भारतीय रहे। उन्होंने शीशम की एक फुट व्यास की एक बड़ी तश्तरी पर तारकशी से मछलियों के जोड़े तथा नृत्य करते हुए मयूर अंकित कराये थे। सन् 1867 की आगरा की कला प्रदर्शनी में उन्होंने इसी प्रकार की कई वस्तुएँ भेजीं जिनकी बड़ी सराहना हुई। इन सबमें धीरे-धीरे वस्तुओं का आकार बढ़ता गया। ग्राउस साहब की प्रेरणा और प्रोत्साहन से छ फुट से भी बड़े दरवाजों की जोड़ी तक तैयार की गई। ग्राउस महोदय ने यह लिखा है कि इस प्रकार की जोड़ी किसी भारतीय घर में नहीं लगी, जिसमें कि तारकशी का काम हो और इतने उत्कृष्ट स्तर का हो। वह उन्होंने बाद में बुलन्दशहर जाने पर वहाँ के टाउनहाल में लगवाई। एक जोड़ी लखनऊ संग्रहालय गई और एक वे जाते समय अपने साथ इंगलैण्ड ले गये जो उनके घर में लगाई गई। ग्राउस साहब ने इस प्रकार की तारकशी की जोड़ी की कीमत तीन सौ रुपये बतलाई है आज यह कीमत कई हजार रूपये के लगभग

और ब्राह्मण धर्मीय प्रतिमाओं को भी उन्होंने देखा आज विश्व मे बौद्ध काल के सर्वाधिक महत्वपूर्ण संग्रह मथुरा म्युजियम के वे जन्मदाता थे। मि0 एफ0 एस0 ग्राउस ने मथुरा के कलक्टर के रूप मे सन् 1870 से 1878 तक नौ वर्ष व्यतीत किये। इस लम्बी अवधि में वे मथुरा के जनजीवन से जुड़ गए। 'मथुरा ए डिस्ट्रिक्ट मैमोयर के मुख पृष्ठ पर अंकित है--

'न केशवो समो देवो, न माथुरः समोद्विजाः''

मथुरा की होली का भी उन्होंने सजीव वर्णन किया है। ''भारतीय इतिहास और संस्कृति के विद्वान अंग्रेज लेखक एफ0 एस0 ग्राउस जीवित होते तो आज वे एक सौ पचास वर्ष के होते। उन्होने एक सौ वर्ष पहले ब्रज मे परम्परागत नन्दगॉव बरसाना की लठामार होली, फालैन मे जलती होली मे से निकलते पण्डे कोसी मे गोमती कुंज की होली और बठेन ग्राम के हुरंगे[1] को देखा था। अंग्रेजी मे लिखित अपने ग्रन्थ 'मथुरा : ए डिस्ट्रिक्ट मैमोयर' मे उन्होने होली के लोक-गीत और पदों के मूल ब्रज-भाषा के उद्धरण देते हुए होली के सजीव चित्रण किये हैं।[2]''

'मथुरा : ए डिस्ट्रिक्ट मैमोयर' मे उन्होंने वृन्दावन के गोस्वामियों और उसके भक्ति सम्प्रदायों का विस्तार से वर्णन किया है। उसे आज भी प्रामाणिक माना जाता है। मेरे बहनोई मथुरा में अतिरिक्त जिला जज रहे हे। उन्होने (श्री रमेश चन्द्र चतुर्वेदी ने) मुझे बतलाया कि किसी सम्पत्ति को लेकर वृन्दावन के गोस्वामियों में मुकदमा चला था। तब उपरोक्त ग्रन्थ ही प्रमाण के रूप मे न्यायाधीश के सामने प्रस्तुत किया गया था। यह दुर्लभ ग्रन्थ मुझे वृन्दावन मे आचार्य श्री वल्लभ जी महाराज की कृपा से देखने को मिला था। वृन्दावन के गोस्वामियों के सम्बन्ध मे ग्राउस साहब ने लिखा है--

''गोस्वामियों ने वृन्दावन आने पर एक देवी का मन्दिर बनवाया। जिसे 'वृन्दा' कहा गया है। मुझे बतलाया गया है कि यह मन्दिर सेवा कुंज मे था किन्तु अब वहाँ उसका चिन्ह भी नहीं है।''

वृन्दा तुलसी को कहते है। तुलसी, देवी के रूप में कृष्ण-प्रिय मानी गई हैं। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के इन्दुमती 'स्वयंवर के प्रसंग में वृन्दावन को कुबेर के चैत्ररथ वन से भी श्रेष्ठ बतलाया है।[3]

सन् 1878 मे ग्राउस साहब का तबादला मथुरा से बुलन्दशहर के कलेक्टर तथा डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के पद पर हो गया। बुलन्दशहर, दिल्ली के निकट पश्चिम उत्तर प्रदेश का एक जिला है, जिसकी कोई कला परम्परा न थी। ''वे

---

1 होली का उल्लास पूर्ण दृश्य

2 धर्मयुग, बम्बई, 13 मार्च 1986

3 रघुवंश छठा, सर्ग, '50'

अर्नेस्ट बी० हैवल

स्वाधीनता से पूर्व, राजनैतिक कारणों से, भारतीय जनता ब्रिटिश अधिकारियों को सम्मानपूर्ण दृष्टि से न देखती थी। कुछ लोगों के मन में अंग्रेजों के प्रति एक तीव्र आक्रोश भर गया था। पंजाब में बसाखी के पुण्यपर्व पर जलियाँ वाले बाग में जो सामूहिक हत्या काण्ड हुआ उसने समूचे देश को हिलाकर रखा स्वयं गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अंग्रेज़ सरकार को अपनी 'सर' की उपाधि लौटा दी थी। इसके बावजूद देश में कुछ ऐसे अंग्रेज थे जो भारत को सच्चे हृदय से प्यार करते थे और भारतीय जनता भी उन पर अगाध श्रद्धा और विश्वास रखती थी। दीनबन्धु सी0 एफ0 एन्ड्रूज, भगिनी निवेदिता (मार्गरेट एलिजाबैथ नोबल) और ई0 बी0 हैवल ऐसी ही विभूतियों में से थे। वस्तुतः यह लोग किसी देश के नहीं, मॉ टेरसा की भाँति सारे विश्व के, मानव-मात्र के थे। हैवल ने भारत की आत्मा को पहचाना था। उनके सम्बन्ध में प्रख्यात् कलाविद् राय कृष्णदास जी ने लिखा है

"यह एक विलक्षण संयोग है कि राष्ट्रीय धरातल पर कला को स्थान दिलाने वाले प्रथम व्यक्तित्व थे श्री हैवल, जो शरीर से तो अंग्रेज थे किन्तु मन से भारतीय।"[1]

हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार पं0 बनारसी दास चतुर्वेदी श्री सी0 एफ0 एन्ड्रूज के सानिध्य में रहे और और फिर उन्होंने दीनबन्धु की जीवनी लिखी। इस ग्रन्थ के एक एक शब्द से उनके मन की श्रद्धा व्यक्त होती है। उन्होंने अपने मित्र पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी को एक पत्र लिखा कि वे उन विभूतियों से देश को परिचित कराना चाहते हैं जिन्होंने किसी क्षेत्र विशेष में भारत को योगदान किया है। द्विवेदी जी को यह विचार पसन्द आया और उन्होंने शांति निकेतन से 6 जनवरी 1934 के पत्र में चतुर्वेदी जी को लिखा--

"महामति हैवल की ही बात लीजिये। कितने उदार और खुले दिल के महात्मा थे? वे न होते तो पता नहीं अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, उनकी बंगाल चित्र शैली, उनकी शिष्य-मण्डली और भारतीय कला की क्या दशा होती? उनके बारे में अवनी बाबू से पूछिये तो मालूम होगा कि वे कितने महान् थे? मेरे कहने का मतलब यह है कि ऐसे साधु चरित अंग्रेज़ इस देश में बहुत हो गए है, जिनका नाम प्रातः स्मरणीय है।"[2]

हैवल पहले विदेशी थे, जिन्होंने सही परिप्रेक्ष में भारतीय कला का मूल्यांकन

---

1 कला सौन्दर्य और जीवन लेखक प्रो0 रणवीर सक्सेना स्वागत (भूमिका) श्री राय कृष्णदास

2 डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के पत्र, पृष्ठ 62

किया था। इस कार्य मे अन्य अंग्रेज लेखक जेम्स फर्गुसन तथा विन्सेन्ट स्मिथ असमर्थ रहे थे। हैवल साहब के विचार भारत की कला ओर भारत क इतिहास दानो क सम्बन्ध में सुलझे हुए थे। उन्होंने मूर्तिकला, वास्तु-कला आदि के अतिरिक्त भारतीय इतिहास विपयक कई अमूल्य ग्रन्थ-रत्न प्रदान किये। 'इण्डियन पेन्टिग एण्ड स्कल्पचर,' 'आइडियल्स ऑफ इण्यिन आर्ट,' 'हिमालय इन इण्डियन आर्ट' 'इण्डियन आर्चिटेक्चर' और 'एरियन रूल इन इण्डिया' जैसे ग्रन्थों की रचना करके उन्होने पश्चिम को भारतीय कला का वास्तविक परिचय दिया और उसके बारे मे सारी पूर्व धारणाओ को ही बदल दिया। उन्होंने विदेशी संस्कारों से ग्रसित, हीन भावना से पीडित भारतीय मानस को एक नई कला-चेतना दी। उन्होंने 'आर्ट एण्ड इंडस्ट्री' लन्दन मे मद्रास के शिल्प पर एक लेख-शृखला प्रकाशित कराई। उन्होंने 'कलकत्ता स्कूल ऑफ आर्ट' के प्रिंसिपल बनते ही पाश्चात्य कला की नकलें, जिनसे छात्र चित्र बनाना सीखते थे, उठाकर 'स्टोर' में फिकवा दी और उनके स्थान पर राजस्थानी और मुग़ल कला के उत्कृष्ट नमूने रखवा दिए।

हैवल साहब की मान्यता थी कि भारत ने सदा कला के प्रेरक प्रतीक बुद्ध और शिव के रूप मे तप को पूजा है। जावा आदि देशों की बौद्ध कला का मूल स्रोत भारतीय है।

बहुत दिन पहले सन् 1947 में डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल, गुजरात विद्या सभा (गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी) अहमदाबाद के विशेष आमन्त्रण पर 'मथुरा कला' पर कुछ व्याख्यान देने गये थे। भाषण-माला के साथ 'एपीडायस्कोप' पर उन्होंने चित्रों का प्रदर्शन भी किया था। उन दिनों मैं अहमदाबाद में था। आचार्य श्री की यह व्याख्यान माला ही मेरे लिए दीक्षा-मन्त्र बनी। दूसरे दिन सबेरे मैं गुजरात क प्रख्यात् कला-गुरु श्री रविशकर रावल के आवास 'चित्रकूट' पर डॉ0 अग्रवाल स मिलने गया। उन्होंने मुझसे पूछा, "तुम अंग्रेजी समझ लेते हो?" मेरे हाँ कहने पर उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "मै तुम्हें ऐसा गुरु बतला रहा हूँ, जिसके समकक्ष श्रद्धावान, भारतीय कला का भक्त कोई अन्य नहीं हुआ। हैवल साहब के ग्रन्थों को एक बार पढ़ डालो।"

मैंने हैवल साहब की 'इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेन्टिग' तथा 'आइडियल्स ऑफ इण्डियन आर्ट' देखना प्रारम्भ किया। हैवल साहब की कृतियों ने मुझे विमुग्ध कर दिया। अपने देश की गौरवमयी कला-निधि के प्रति मेरे मन मे एक भक्तिमय श्रद्धा जागृत हुई। ज्यों-ज्यों मैं इन ग्रन्थों को पढ़ता गया, कला का एक नया अर्थ खुलता गया। जावा की सिहसारि की देवि प्रज्ञापारमिता की अद्भुत भावपूर्ण प्रस्तर प्रतिमा, कलकत्ता के भारतीय सग्रहालय मे सरक्षित नेपाल की सौन्दर्यवती लक्षण-सम्पन्ना भगवान गौतम बुद्ध और बोधिसत्व की धातु-मूर्तियों तथा उपनिषदों के रूपान्तरकार, मुग़ल शाहज़ादे दाराशिकोह की शबीह (व्यक्ति-चित्र) के दर्शन मुझे सबसे पहले इन ग्रन्थों में ही हुए।

मन में एक जिज्ञासा उठी, क्या हैवल साहब के [illegible] उनका चित्र कहीं नहीं मिला, उनके ग्रन्थों में भी नहीं। [illegible] ड्राइंग्स' से ज्ञात हुआ कि पटना के चित्रकार श्री ईश्वरी प्रसाद[1] [illegible] कलकत्ता में थे, हैवल साहब का एक रंगीन चित्र तैयार किया। [illegible] हाथीदाँत की कुर्सी पर बैठे दिखलाये गए हैं। [illegible] ईश्वरी प्रसाद ने वह चित्र मि0 अर्नेस्ट बिन्फील्ड हैवल [illegible] बिल्सन को सन् 1968 में भेंट कर दिया और इन्होंने [illegible] लायब्रेरी को दान कर दिया। मुझे यह चित्र तो नहीं मिला किन्तु [illegible] मित्र दास गुप्ता जी, ललित कला अकादेमी, नई दिल्ली [illegible] प्रकाशित हैवल साहब का एक छोटा चित्र बतलाया। [illegible] उसी की एक प्रतिकृति है। मि0 हैवल, कुमार स्वामी [illegible] अग्रवाल की त्रयी मेरे हृदय में गुरुपद पर प्रतिष्ठित है। मि0 अर्नेस्ट बिन्फील्ड हैवल का जन्म सन् 1861 ई0 में इंग्लैण्ड में श्रीयुत मि0 [illegible] हैवल के यहाँ हुआ। उनकी माता लिली एक बड़े फौजी अफसर मि0 [illegible] की पुत्री थीं। दोनों ही परिवार सम्भ्रान्त और सुसंस्कारित थे। [illegible] नवी में उच्चाधिकारी थे। मि0 अर्नेस्ट हैवल की शिक्षा-दीक्षा [illegible] 'रॉयल कालेज ऑफ आर्ट' में लन्दन में हुई। [illegible] चले गए और 'पेरिस स्टूडिओज़' के सम्पर्क में आए। [illegible] उत्तरोत्तर बढ़ती गई और इटली जाकर उन्होंने [illegible] अध्ययन किया।

'इण्डियन एजूकेशनल सर्विस' के एक अधिकारी [illegible] और उनकी नियुक्ति सन् 1884 में 'मद्रास स्कूल ऑफ आर्ट्स' के सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद पर हो गई। बाद में उनको एक अन्य महत्वपूर्ण जिम्मेदारी भी मद्रास सरकार ने सौंप दी। प्रदेश में हस्त शिल्प की कौन कौन सी [illegible] रही हैं, उनकी तत्कालीन स्थिति क्या है और उनकी [illegible] के लिए क्या उपाय अपेक्षित हैं? यह निश्चित ही हैवल साहब की रुचि का कार्य था; जैसा कि कार्लायल ने लिखा है, "यदि किसी व्यक्ति को अपनी रुचि का काम मिल जाय, तो उसे इससे अधिक सौभाग्य की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए।"

'जनरल ऑफ इण्डियन आर्ट इंडस्ट्री' उस समय लन्दन की एक प्रमुख त्रैमासिक कला पत्रिका थी। उसमें केवल विषय के अधिकारी विद्वानों के ही खोजपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ करते थे। हैवल साहब ने इस प्रतिष्ठित [illegible] कला पत्रिका में कई महत्वपूर्ण लेख लिखे। हैवल साहब का [illegible] हाथीदाँत के शिल्प पर गया और उन्होंने मद्रास में हाथीदाँत की कला पर [illegible]

1 ईश्वरी प्रसाद पटना के प्रसिद्ध चित्रकार शिवलाल के पौत्र थे। सन् 1904 में हैवल साहब ने ईश्वरी प्रसाद की नियुक्ति 'कलकत्ता आर्ट स्कूल' में की थी।

लेख लिखा। यह लेख सन् 1888 में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने इसी विषय पर सन् 1890 में एक अन्य लेख लिखा।[2] हाथीदाँत की भारतीय कला पर लेखन का यह सबसे पहला प्रयास था।

हैवल साहब का एक अन्य लेख मद्रास प्रदेश के आभूषणों पर सन् 1890 में प्रकाशित हुआ। यह सोचकर आश्चर्य होता है कि उन दिनों जबकि कपड़ा इंग्लैण्ड की मानचेस्टर की मिलों से बुनकर आता था तब एक अंग्रेज विद्वान् भारत के हथकरघों से तैयार किए हुए कपड़े की वकालत कर रहा था। हैवल साहब की मान्यता थी कि देश की सामान्य जनता की वस्त्र समस्या विदेश से आए कपड़े से नहीं अपितु यहाँ के हथकरघा पर बुने हुए वस्त्रों से ही सुलझ सकती है। उन्होंने 'इंडस्ट्रियल इण्डिया' के परिशिष्ट में "हैण्डलूम वीविंग इन इंडिया"[3] नामक 24 पृष्ठों का एक लेख लिखा। इस सचित्र लेख में हैवल साहब ने अपनी मान्यताओं को स्पष्ट किया है।[4] "जनरल ऑफ इण्डियन आर्ट एण्ड इण्डस्ट्रीज"[5] में ही उनका मृत्तिका शिल्प पर भी लेख प्रकाशित हुआ। उन्होंने पत्थर की पच्चीकारी पर भी एक मोनोग्राफ लिखा जो बंगाल के हस्त शिल्प पर आधारित था।[6]

भारतीय कला के इन लेखों ने हैवल साहब की प्रतिभा का प्रकाश में ला दिया। सन् 1896 में उनकी नियुक्ति कलकत्ता आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल और गवर्नमेन्ट आर्ट-गैलरी के 'कीपर' के पद पर हो गई। इस प्रकार हैवल साहब मद्रास से कलकत्ता चले आए।[7] इस घटना से ही भारतीय कला के पुनर्जागरण का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। कला के क्षेत्र में कलकत्ता की एक गरिमामयी परम्परा थी। सर विलियम जोन्स द्वारा संस्थापित 'एशियाटिक सोसाइटी' ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रही थी। नई दिल्ली से पहले भारत की राजधानी

---

1 आइवरी कार्विंग इन मद्रास, जनरल ऑफ इंडियन आर्ट एण्ड इंडस्ट्रीज वो0 II नवम्बर 1888, पृष्ठ 20-21 सचित्र

2 वही वोल्यूम III, 1890, पृष्ठ 3

3 वही वो0 V, 1894, पृष्ठ 29-33 सचित्र

4 इन्डस्ट्रियल इंडिया, फरवरी 1905

5 जनरल ऑफ इण्डियन आर्ट एण्ड इंडस्ट्रीज वो0 III, 1890 पृष्ठ 11

6 'ए मोनोग्राफ इन स्टोन कार्विंग इन बंगाल'
आर्ट इन इंडस्ट्री थ्रू दि एजेज, नई दिल्ली, नवम्बर 1970 पृष्ठ, 23 सचित्र

7 अंग्रेज शासन ने मद्रास, कलकत्ता, लाहौर और बम्बई में भारतीय जनता की रुचि को अधिक परिष्कृत करने के उद्देश्य से यह चारों आर्ट स्कूल 1850 ई0 से 1875 ई0 की अवधि में खोले गए थे। 16 अगस्त 1854 को गरनहट्टा मुहल्ले में 'स्कूल ऑफ इण्डस्ट्रियल आर्ट' की स्थापना हुई। कमेटी के अध्यक्ष कर्नल गुडविल थे और सचिव राजेन्द्रलाल मित्र। नवम्बर में यह स्कूल 'कोल्हू टोला' में चला गया।

कलकत्ता थी जहाँ कि शीतकाल में गवर्नर जनरल का आवास था। [illegible] कलकत्ता विश्वविद्यालय के सम्पर्क में भी आए। वे इसके 'फैलो' [illegible] और विश्व विद्यालय के सुधार का पत्रलिपिया की चर्चा में [illegible] लिया। यह सन् 1901 की बात है। यहीं [illegible] आग्रह किया कि बंगाल के अंग्रेजी स्कूलों में भी [illegible] होना चाहिये। सन् 1916 से 1923 तक उन्होंने [illegible] लेगशन' का काम संभाला। जैसा कि स्वाभाविक है [illegible] था। इसके बाद वे अपने घर आक्सफोर्ड चले गए। [illegible] था। उनका मानसिक सन्तुलन बिगड़ता गया, [illegible] होती है। 20 दिसम्बर 1934 को उनका निधन हो गया। [illegible] देश समझा और इसे जी भर कर प्यार किया।

इस महापुरुष के निधन पर विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी श्रद्धांजलि इन शब्दों में व्यक्त की थी :-

''ई0 बी0 हैवल हमारे बीच से चले गए। [illegible] भारतीय कला को पुनर्जागरण की दिशा में प्रेरित [illegible] कर रही थी, हमसे चिर विदा ले गई। यह महान अंग्रेज [illegible] दीपक लेकर हमारे बीच में उस समय आया था जब हम अपनी [illegible] सर्जना पर से अपना विश्वास खो चुके थे और पश्चिम के [illegible] बढ़ रहे थे। असीम धैर्य के साथ उन्होंने [illegible] पुण्य-वेदी पर पुष्पांजलि अर्पित कराई। उनके [illegible] अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, नन्दलाल बोस तथा अन्य कलाकारों के रूप में फलीभूत हो रहे हैं।''

भारतीय कला और पुरातत्त्व के क्षेत्र में हैवल साहब के अलावा अन्य पाश्चात्य विद्वान भी कार्य कर रहे थे। जेम्स फर्गुसन, 'दि केव टेम्पल्स ऑफ इंडिया,' 'दि ट्री एण्ड सर्पेन्ट वर्शिप' और 'दि हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटैक्टर' जैसे विशाल ग्रंथों की रचना कर रहे थे, जो कि एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य था। इन सब के बावजूद हैवल की एक अलग विशिष्ट दृष्टि थी। वे वास्तुकला की नाप की बारीकियों, मूर्ति विज्ञान के लक्षण और ऐतिहासिक विश्लेषण में न उलझकर, कला की मूल आत्मा से साक्षात्कार करते थे, मुख्य रूपेण वे पुराविद की अपेक्षा कला इतिहासकार थे। भारतीय कला के आधुनिक

---

1 जनरल ऑफ इन्डियन सोसाइटी आफ ओरियन्टल आर्ट वर्ष III, 1934, अंक 2
सन 1968 में शान्ति निकेतन में हैवल मैमोरियल हॉल का निर्माण हुआ। इस अवसर पर रवीन्द्र नाथ ने जा भाषण किया वह 'जनरल ऑफ दि इंडियन सोसाइटी ऑफ ओरिएन्टल आर्ट के गोल्डन जुबिली नम्बर में **हैवल और अवनीन्द्र नाथ शीर्षक से** प्रकाशित हुआ

साहित्य और दर्शन के एक व्याख्याकार थे, जिनकी पहुँच बहुत गहरी थी। उसके पीछे भारत के दार्शनिक तत्वों का गहन अध्ययन था। उनकी 'स्कल्पचर एण्ड पेंटिंग आइडियल्स ऑफ इण्डियन आर्ट' और हिमालय इन इण्डियन आर्ट' इस कथन की पुष्टि करती है। उनकी भाषा मन को छूती ही नहीं थी बल्कि उस पर एक अमिट प्रभाव डालती थी। डॉ0 आनन्द के0 कुमारस्वामी में जहाँ सागर जैसा गाम्भीर्य है, वहाँ हैवल साहब की कृतियाँ मधुर-जल की पुण्य-सरिताएँ हैं जिनमें अवगाहन मन को एक शान्ति देता है।

अपने विचारों में वे बहुत स्पष्ट थे। भारतीय कला की एक विशेष मूर्ति शैली है गंधार कला। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भारत के पश्चिमोत्तर गंधार और उससे सटे हुए भू खण्ड में एक नवीन मूर्ति-शैली का प्रारम्भ हुआ, जिसकी मूर्तियों की विषय वस्तु तो भारतीय थी, किन्तु जिसकी शिल्प-शैली पर यूनानी और रोमनकला का अत्यधिक प्रभाव था। भगवान् बुद्ध के जीवन का शायद ही ऐसा कोई प्रसंग हो, जिसका अंकन गंधार शिल्प शैली में न हुआ हो। 50 ईसवी से लगभग 300 ईसवी तक इस भू प्रदेश में काले सिलहटी पत्थर की बुद्ध और बोधिसत्व की असंख्य मूर्तियाँ बनीं।

गत शताब्दी में भारतीय कला के नाम पर यह गंधार शैली ही पहचानी जाती रही। विख्यात इतिहासकार विन्सेन्ट स्मिथ ने सन् 1890 में लिखा--

"कला समीक्षक गंधार मूर्तिशिल्प की बुद्ध और बोधिसत्व की प्रतिमाओं को ही भारतीय मूर्ति-शिल्प के श्रेष्ठतम नमूने मानते हैं।"

इस मान्यता का विरोध सबसे पहले ई0 बी0 हैवल ने ही किया। उन्होंने यह भी कहा कि भगवान् बुद्ध की सबसे पहली मूर्ति मथुरा की कुषाण-शैली में बनी। पाश्चात्य विद्वान् बुद्ध प्रतिमा के सृजन का श्रेय गंधार के शिल्पियों को देते थे। उन्होंने इस भ्रामक तथ्य का निराकरण करते हुए कहा कि --

"गन्धार शिल्प-शैली की यह मूर्तियाँ एक निकृष्ट हस्त-शिल्प के अलावा और कुछ भी नहीं है। इनमें न कलाकार के मन में निष्ठा व श्रद्धा व्यक्त होती है और न उसमें उस आत्मिक तत्व का समावेश ही हुआ है जो भारतीय कला की विशेष लाक्षणिकता है। इस शैली के बुद्ध और बोधिसत्व कठपुतलियाँ जैसे निर्जीव है। वे मात्र यूनानी और रोमन आराध्यो की घटिया प्रतिकृतियाँ है।"

हैवल साहब ने गुप्तकाल की प्रतिमाओं की मुक्तकंठ से सराहना करते हुए उसे भारतीय कला का स्वर्णयुग माना है। वे सारनाथ की धर्मचक्र प्रवर्तन की बुद्ध प्रतिमा को, जिसमें आत्मिक सौन्दर्य और संयम का 'मणि-कांचन संयोग हुआ है' भारतीय कला की श्रेष्ठतम, आदर्श कृति मानते थे। उनकी राय में भारत की चित्रकला और मूर्तिकला 'रिप्रेजेन्टेशनल' नहीं है--वह व्यक्ति विशेष के दैहिक रूप का प्रतिनिधित्व नहीं करती बल्कि वह उन आत्मिक आध्यात्मिक भावों को उजागर करती है जिससे वह देह प्रदीप्त है। डॉ0 आनन्द के0 कुमार

स्वामी, अर्द्धेन्दुकुमार गांगुली, रायकृष्णदास, डॉ0 मोतीचन्द्र, डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल तथा डॉ0 मार्तीन्द्र आदि मूर्धन्य कला [illegible] ने भी इस मान्यता का समादर दिया।

श्रीयुत ई0 बी0 हैवल ने सन् 1896 में कलकत्ता आर्ट स्कूल का प्रधानाचार्य पद ग्रहण किया और वे एक लम्बे काल तक अर्थात् सन् [illegible] तक इस पद पर कार्य करते रहे। उन्होंने कला की भारतीय परम्परा का अध्ययन किया और उन्हीं के सहयोग से अवनीन्द्र नाथ ठाकुर ने एक नवीन चित्र शैली 'बंगाल चित्रकला शैली' का प्रारम्भ किया। उनके आगमन से पहले शिक्षित बंगाली [illegible] के चित्रकारों, विशेष रूप से रिफेल, माइकेल एंजेलो, लिओनार्डो द विन्ची आदि के नाम से तथा उनकी चित्र साधना से थोड़ा बहुत परिचित था परन्तु भारतीय कला की विभिन्न शैलियों को न तो वह समझता ही था और न उसके सम्बन्ध में कुछ ज्ञान ही रखता था। कलकत्ता का ठाकुर परिवार एक अत्यन्त सम्पन्न और सुसंस्कृत परिवार था। इसमें भी अवनीन्द्र नाथ ठाकुर विदेशी चित्रों की प्रतिलिपियाँ तैयार करने में लगे रहते थे। उन्होंने स्वयं लिखा है- 'कहीं मौलिक सर्जना या स्वतन्त्र चेतना का प्रस्फुटन नहीं [illegible] देखकर मैं मन ही मन दुःखी होता था और कभी कभी अपने पर [illegible] थी, यदि हैवल न आते तो हमारा दृष्टिकोण न बदलता और [illegible] रहती।'[1]

हैवल साहब ने, जो एक चतुर पारखी थे उनकी प्रतिभा को पहचान लिया [illegible] अवनी बाबू को जहाँ एक दिशा दी वहीं उनमें एक भारतीय चित्रकार का आविर्भाव किया। उनके चित्रों में मौलिक प्रतिभा चिन्तन और अभिव्यक्ति [illegible]। कलाकर्मी श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का एक अत्यन्त प्रख्यात चित्र है जिसमें शाहजहाँ अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में आगरा के किले से ताजमहल को देख रहे हैं और उनकी पुत्री जहाँनारा उनके निकट बैठी हुई है। शाहजहाँ की [illegible] दृष्टि मानों अपनी पूर्व स्मृतियों में खो गई है। 'उमा', 'यात्रा का अन्त' आदि से अवनी बाबू की कला उत्तरोत्तर विकसित होती गई। ''शाहजहाँ'' की चित्र कृति सन् 1902 की दिल्ली की कला प्रदर्शनी में गई थी और इसमें पुरस्कृत भी हुई थी।

हैवल साहब और अवनी बाबू एक दूसरे के निकट आते चले गए। हैवल यह चाहते थे कि अवनीन्द्रनाथ उनके सहयोगी के रूप में कलकत्ता आर्ट स्कूल में आ जावें परन्तु अवनीन्द्रनाथ ठाकुर स्वतन्त्र प्रकृति के व्यक्ति थे। शासकीय बन्धनों में कार्य करना उन्हें प्रिय न था। ठाकुर वंश का सदस्य जिसे कोई अभाव

रहा था, सरकारी नौकरी में क्यों जाय? परन्तु वे हैवल साहब का स्नेह अनुरोध टाल न सके। कलकत्ता आर्ट स्कूल में उनकी नियुक्ति 'वायस प्रिंसिपल' के पद पर हो गई। हैवल साहब को अवनी बाबू के रूप में समर्पित सहयोगी मिला जिसे वे सहारा सदा प्यार देते रहे। आचार्य श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार अपने शिष्यों से कहा था

"हैवल साहब ने मुझे ऊपर उठाया, मेरा निर्माण किया। मैंने सदैव उन्हें अपने गुरु के रूप में श्रद्धा दी। वे कभी मुझे शिष्य कहते थे और कभी उनके कार्य का पूरा करने वाला सहयोगी। सच तो यह है कि वे मुझे अपने छोटे भाई की तरह स्नेह करते थे। तुम सब जानते हो कि मैं नन्दलाल (आचार्य नन्दलाल बोस) को कितना प्यार करता हूँ लेकिन मुझ पर उनका स्नेह और भी गहरा था।" आश्चर्य यह है कि हैवल साहब ने अवनी बाबू को कभी पढ़ाया न था।

कला-गुरु अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का हैवल साहब से निरन्तर सम्पर्क रहा यद्यपि अवनी बाबू ने बहुत बाद सन् 1905 में आर्ट-स्कूल का उप-प्राचार्य का कार्य भार सम्भाला।

इस समय तक हैवल साहब आर्ट स्कूल और आर्ट गैलरी का काया कल्प कर चुके थे। उन्होंने शिक्षण व्यवस्था में भी परिवर्तन किए और केवल तीन कक्षाएँ रखीं।

(1) हस्त शिल्प अथवा उद्योग-उपयोगी कला

(2) वास्तुकला का इतिहास और वास्तुकला सम्बन्धी चित्रण

(3) ललित कला : इतिहास और चित्रांकन

हैवल साहब ने कला-वीथी को श्रेष्ठ कला-कृतियों से भर दिया। उन्होंने नेपाल से बौद्ध और हिन्दू आराध्यों की पीतल की ढली, अत्यन्त कला पूर्ण कृतियाँ मंगवाई। बर्मा से सुन्दर कलात्मक चाँदी की तश्तरियाँ मंगवाई और अजन्ता के भित्ति-चित्र तैयार कराए। उनके इस नए संग्रह में मुगल शाहंशाह जहाँगीर के तीन चित्र थे, जिन पर स्वयं सम्राट् की मुहर और हस्ताक्षर थे। यह चित्र सन 1624 में प्रख्यात् चित्रकार उस्ताद मन्सूर के तैयार किए हुए थे। मन्सूर जहाँगीर के दरबार के श्रेष्ठतम चित्रकारों में से थे। धीरे-धीरे कला-वीथी समृद्ध होती गई।

अप्रैल सन 1902 में हैवल एक वर्ष की छुट्टी लेकर इंग्लैण्ड चले गए और आर्ट-स्कूल के अधीक्षक मि0 ओ0 घिवर्डी ने उनका कार्य-भार संभाला। अवनी बाबू तब तक काफी ख्याति प्राप्त कर चुके थे और उनका 'शाहजहाँ' का चित्र सन् 1902 की दिल्ली की कला प्रदर्शनी में पुरस्कृत भी हो चुका था। हैवल साहब ने इंग्लैण्ड प्रवास में वहाँ के प्रतिष्ठित पत्र 'स्टूडियो' में अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की कला-साधना पर दो लेख लिखे।

इंग्लैण्ड से मार्च 1903 में वापस आकर हैवल साहब अपने कार्य में सल्लग्न

हो गए। सन् 1905 में मिस्टर आ0 मिवर्डी का मृत्यु [illegible]
थे कि अवनी बाबू इस पद पर आ जाये परन्तु [illegible]
और हैवल के विशेष आग्रह पर वापस प्रिंसिपल [illegible]
भारत आने के पश्चात् मि0 हैवल अस्वस्थ रहने [illegible]
की व्यवस्था और अध्यापन तथा कार्य भार [illegible]
का ही संभालना पड़ा। 'आर्ट स्कूल' के छात्र चित्रकला [illegible]
कारीगरी और धातु के कार्य में भी प्रगति कर रहे थे [illegible]
मित्र के प्रख्यात ग्रन्थ 'एन्टीक्विटीज ऑफ ओडिसा' [illegible]
किये।

यह बंगाल चित्र-शैली के विकास का काल [illegible]
और उनके शिष्यों ने डॉ0 आनन्द के0 कुमारस्वामी और [illegible]
'मिथ्स एण्ड लीजेण्ड्स ऑफ इंडिया' का अपने चित्रों [illegible]
कुमारस्वामी के ग्रन्थ 'बुद्ध एण्ड दि गास्पल्स ऑफ बुद्धिज्म' [illegible]
टाकुर और नन्दलाल बसु के रंगीन चित्र प्रकाशित [illegible]
प्रकाशना द्वारा लन्दन में छपे। भगवान बुद्ध वाले ग्रन्थ [illegible]
बहुत गहराई से छू लिया। मैं अवनीन्द्रनाथ टाकुर के इस चित्र [illegible]
कृतियों में से एक मानता हूँ। तथागत बुद्ध का महापरिनिर्वाण [illegible]
चिता की लपटें आकाश को छू रही हैं; [illegible]
वे बड़ी विचार पूर्ण, गम्भीर मुद्रा में [illegible]
भावाभिव्यक्ति अद्‌भुत है। शायद वे सारिपुत्र आनन्द और [illegible]
वे मानो सोच रहे हैं कि विश्व का दीपक बुझ गया [illegible]
निकट कमल के कुछ फूल पड़े हैं जो स्वयं बुद्ध के प्रतीक हैं [illegible]
भाषा अत्यन्त सरल और प्रवाहमयी है। जावा के महा बोरो बुदुर के [illegible]
का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं

"Every group and every figure are ahaborately true and sincere in expression of face, gesture and pose of body; and the actions which link the various groups and sigle features together are strongly and simply told, without effort on striving for effect--it was so, because so it could only be."[2]

---

1 बुद्ध एण्ड दि गास्पल्स ऑफ बुद्धिज्म : कुमारस्वामी रंगीन चित्र संख्या [illegible] (384 पृष्ठ के सामने)

2 'इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेन्टिंग, पृष्ठ 118 जावा के बोरोबुदुर के [illegible] में समस्त बुद्ध-चरित लगभग 2000 शिल्पाकृतियों में उत्कीर्ण हुआ है। यदि इन 'पैनल्स' को एक के बाद एक रखा जाय तो वे दो मील से अधिक होंगी।

हैवल साहब की गणना श्रेष्ठ कला-समीक्षक और इतिहासकार के रूप में भी होती है। इनकी 'हैण्ड बुक टू आगरा एण्ड ताज' तथा 'बनारस : दि सैक्रेड सिटी' जन साधारण के लिए, विशेष रूप से विदेशी पर्यटकों के लिए उपयोगी पुस्तकें हैं। "ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ इण्डिया" (1924) तथा "दि हिस्ट्री ऑफ एरियन रूल इन इंडिया (1918) मूल भारतीय श्रोतों पर आधारित इतिहास हैं। यह इतिहास एल्फिन्स्टन स्मिथ तथा अन्य पाश्चात्य इतिहासकारों की कृतियों से नितान्त भिन्न हैं। वास्तुकला पर हैवल साहब की दो महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं-- 'इण्डियन आर्किटेक्चर इट्स सायकोलोजी, स्ट्रक्चर एण्ड हिस्ट्री' तथा 'दि एन्शिएन्ट एण्ड मिडिवल आर्किटेक्चर इन इण्डिया।' इन दोनों ग्रन्थो की पृष्ठ भूमि में हैवल साहब का देश-व्यापी पर्यटन है। उनके वर्णनों में पाषाण सजीव बनकर बोलते हैं और पाठक की दृष्टि के आगे एक वातावरण खड़ा कर देते हैं।

जैसा कि मैंने कहा है कि जेम्स फर्गुसन का कार्य अत्यन्त श्रम-साध्य और समय साध्य था। उन्होंने पाँच सौ से अधिक गुहा-गृह स्वयं जाकर देखे थे और अपने 'वास्तुकला के इतिहास' को तीन हजार के लगभग चित्रों से अलंकृत किया था, फिर भी भारतीय कला की देन के प्रति उनका दृष्टिकोण उतना सुलझा हुआ, इतना उदार नहीं था जितना कि मि० ई० बी० हैवल का।

हैवल साहब का यह दृढ़ मत था कि भारतीय कला की जो धारा सिन्धु घाटी सभ्यता के काल से प्रवाहित होती आ रही है उसे हिन्दू, बौद्ध, जैन और मुस्लिम के खण्डों में नहीं बाँटा जा सकता। जिस प्रकार किसी बड़ी नदी में अन्य सहायक नदियाँ भी आकर मिलती हैं और उसमें अपने को आत्मसात् कर देती हैं उसी प्रकार अनेक बाह्य प्रभाव भी इसमें घुल-मिल गए हैं। फर्गुसन साहब का मत था कि स्थापत्य में 'मेहराब' का प्रयोग मुस्लिम वास्तु कला की देन है। किन्तु हैवल साहब ने अनेक उदाहरण देकर उनकी इस धारणा को निराधार सिद्ध कर दिया।

इतना ही नहीं, वे ताजमहल पर अपनी पूर्ववर्ती कला का प्रभाव मानते हैं। मैं यह देखकर आश्चर्य से दंग रह गया था हैवल साहब ने रेखाचित्र बनाकर ताज के गुम्बद में चक्र, पदम् और कलश जैसे प्राचीन भारतीय प्रतीक को दिखलाया है। एक समीक्षक की दृष्टि में--

"What made the Taj unique was the sculptural quality and in this context there was no precedent to his monument in the strictly non representational art of Islam."[1]

---

1 The other Theories of the Taj · The Illustrated Weekly of India, Bombay, June 27, 1982, p.21

"ताज इस्लाम के पूर्व के भारतीय आदर्शों और बाद के मुस्लिम आदर्शों--दोनों के प्रेमालिंगन का सबसे सुन्दर नमूना है।"

भारत में अंग्रेजी राज पं० सुन्दर लाल, प्रथम खण्ड पृष्ठ 137

हैवल साहब के दो निबन्ध संग्रह में भारतीय कला के पुनर्जागरण के अतिरिक्त, गृह-उद्योगों तथा उनके विकास की चर्चा की गई है। कुछ लेख भारतीय वातावरण और आवश्यकता के अनुरूप शिक्षा में परिवर्तन करने के सम्बन्ध में हैं। उनकी यह दोनों पुस्तकें हैं

"Essays on Indian Art, Industry and Education" और "The basis for Artistic and Industrial Revival in India"

कैसा आश्चर्य है कि भारत के जिस परम्परागत कला उद्योग को उन्नीसवीं सदी मे ही अंग्रेजों की नीति ने नष्ट कर दिया, कुम्हारों पर पाबन्दियाँ लगा दी, उन पर अमानुषिक अत्याचार किए, उसका विरोध बीसवीं शताब्दी के अंतिम प्रहर मे एक सहृदय विदेशी के द्वारा हुआ। स्वदेशी की भावना जगाने वाला वह पहला विदेशी था। शायद इसीलिए श्रीयुत ओ0 कुमार गांगुली ने हैवल साहब को "भारतीय राष्ट्रीयता का अंग्रेज मसीहा" कहा है। सन् 1908 में हैवल स्थायी रूप से भारत छोड़कर चले गए।

हैवल साहब के चले जाने के पश्चात् कलागुरु श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के स्थान पर पर्सी ब्राउन[1] की नियुक्ति की गई। भला एक भारतीय प्रिंसिपल के पद पर स्थायी रूप से कैसे रह सकता था? रौथस्टीन महोदय को एक पत्र में रविबाबू ने लिखा है कि "यह एक दुखद सत्य है कि भारत भारतीयों के लिए नहीं है।"

हैवल साहब ने सर वर्डवुड आदि का इस बात के लिए घोर विरोध किया कि विदेशी कला समीक्षक भारत की दस्तकारी की कला की तो सराहना करते हैं किन्तु भारतीय मूर्तिकला और चित्रकला के प्रति उनका रवैया उपेक्षा पूर्ण है।

सर्व श्री टी0 डबल्यू राइस डेविड्स, रौथस्टीन महोदय और हैवल साहब के सम्मिलित प्रयत्नों से इंग्लैण्ड में जून 1910 में इन्डिया सोसाइटी की स्थापना हुई। इस संस्था ने अनेक महत्वपूर्ण कला-ग्रन्थ प्रकाशित किए। इसके सदस्यों में अनेक भारतीय भी थे।

आज हैवल साहब हमारे बीच में नहीं हैं। भारत में कहीं भी राष्ट्रीय संग्रहालय--दिल्ली में भी--उनकी कोई प्रतिमा स्थापित नहीं है फिर भी वे एक प्रकाश-स्तम्भ की भाँति हैं जो युग-युगों तक हमारा पथ आलोकित करते रहेंगे।

□□

1. इण्डियन आर्चिटैक्चर खण्ड 1. हिन्दू तथा बौद्ध और मुस्लिम खण्ड 2 के लेखक

डॉ० आनन्द के० कुमार स्वामी

प्राच्य विद्याओ के महान् ज्योतिर्धर डॉ0 आनन्द कैन्टिश कुमारस्वामी के दर्शनो का सौभाग्य मुझे कभी नहीं मिला। उनके भारतीय कला और संस्कृति सम्बन्धी विचारों, धारणाओं और मान्यताओं से परिचित होने में ही मैंने स्वयं को धन्य माना। कला के क्षेत्र मे उनकी देन अतिमूल्यवान् है। प्रख्यात् विद्वान् जोजेफ केम्पवल का यह कथन यथार्थ है 'भारतीय कला के हम सभी अध्येता और अनुसधानकर्ता आज उनके कधे पर ही खडे है।' इस ऋषि दार्शनिक ने विद्याओ की भागीरथी के मूल उत्स को वेदो मे खोजने का प्रयत्न किया। तब जो नन्हा सा बीज था, वही कालान्तर में विशाल वट्-वृक्ष बना। आज कोई भी यह नहीं कह सकता कि उनके लेखन का क्षितिज कितना विशाल था। विश्व के अनेक, विभिन्न भाषाओं के प्रतिष्ठित पत्रो में उनकी रचनाएँ बिखरी है, जिन्हें खोजना ही अब अत्यन्त कठिन कार्य है। डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी के सुपुत्र डॉ0 राय कुमारस्वामी ने यह दुष्कर कार्य करने का प्रयत्न किया और उनकी ग्रन्थ तथा शोध पत्र तालिका कुमारस्वामी जन्म शताब्दी पर सन् 1979 ई0 में भारत सरकार के संस्कृति विभाग और ललित कला अकादमी के सयुक्त प्रकाशन से छपी। इसमे उनके शोध-पत्रो तथा ग्रन्थो की तालिका 684 दी गई है, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि इसमें उनके सारे कृतित्व का समावेश हो गया।[1]

उनकी लेखन की धारा सन् 1900 से प्रारम्भ हुई और वह उनके जीवन के अंतिम क्षण तक सन् 1948 तक सतत् रूप से प्रवाहमान् रही। भारतीय वास्तु कला, मूर्ति-शिल्प तथा चित्र-कला की कोई ऐसी विधा नहीं है, जो उनकी दृष्टि से छूट गई हो। भारतीय दर्शन, इस्लामिक संस्कृति और धर्म तथा पश्चिमी ईसाई मत के दर्शन पर उनकी ग़जब की पकड़ थी और उसके तुलनात्मक अध्ययन मे उनसे अधिक निष्णात पण्डित और कोई न था। कलाचार्य ई0 बी0 हैवल के पश्चात् डॉ0 कुमारस्वामी दूसरे व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय कला के सम्बन्ध मे फैले हुए भ्रम जाल को तोड़ दिया। योरोप के सामान्य जन ही नहीं सुविज्ञ कलालोचक तक भारत की ललित कला को कला स्वीकार करने मे हिचकिचाते थे, बहुभुजी देवता उनके लिए एक पहेली थे। भारत की कला के मानदण्ड, उसके आदर्श और उसमे निहित भाव सृष्टि को वे समझ न पा रहे थे। इस देश का हस्त-शिल्प तो वे समझते थे, किन्तु मूर्तिशिल्प अथवा चित्रकला में अन्तर्निहित गूढ, रहस्यात्मक भावना को समझ सकने मे वे असमर्थ थे। भारत के प्रथम राष्ट्रपति

---

1 यह ग्रन्थ तालिका (बिब्लियोग्राफी) मुझे ललितकला अकादमी के पुस्तकालयाध्यक्ष श्रीयुतसचदेव की कृपा से प्राप्त हुई थी। मैं उनका आभारी हूँ।

डॉ० आनन्द के० कुमारस्वामी

डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों मे 'उन्होंने ससार को भारतीय कला के अनिर्वचनीय सौन्दर्य मे परिचित कराया और भारतीय सस्कृति की गरिमा का उन्नयन किया।' भारतीय कला के सम्बन्ध में फैले हुए कुहासे को कुमारस्वामी ने अपनी ज्ञान रश्मियो से दूर किया। उनके बारे में आचार्य श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है -

''आनन्द कुमारस्वामी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह आलोच्य विषय के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष के साथ उसकी निर्माण-प्रक्रिया की गहराई मे जाते हैं। वह उस तत्व-दर्शन और श्रद्धा-भक्ति को नही भुलाते जो ऐसी अपूर्व कृतियो के निर्माण में मूल प्रेरणा स्रोत है। हिन्दू और बौद्ध-शास्त्रो का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था और यह अध्ययन तटस्थ आलाचक का अध्ययन नहीं था। उसमें विचार और रचना प्रदान करने वालों के साथ आतरिक सहानुभूति और विश्वास था। भारतीय कला को उन्होंने विश्व मे उसकी महिमा के साथ उजागर किया। अद्‌भुत सूक्ष्म दृष्टि के साथ ही गहरी आध्यात्मिक चेतना ने उन्हें कला का अप्रतिम आलोचक बना दिया था।[1]

डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी का स्मरण आते ही मानस-चक्षुओं के आगे भारतीय प्रज्ञा के एक अन्य वरद-पुत्र आकर खड़े हो जाते हैं और वे है आचार्य कुमारजीव। वे पॉचवीं शताब्दी ईसवी में कूचा (मध्य एशिया) से चीन गए। वहॉ उन्होंने मौलिक ग्रन्थों की रचना के अतिरिक्त समस्त भारतीय बौद्ध वाङ्‌मय का, सो भारतीय और मध्य-एशियाई विद्वानों के साथ अनुवाद किया। वे इस कार्य के अध्यक्ष नियुक्त किए गए थे और सम्पूर्ण कार्य उनकी देख-रेख में ही सम्पन्न हुआ था। आज महायान के जो ग्रन्थ भारत मे अप्राप्य है, वह भाषान्तरित रूप में चीन मे उपलब्ध हैं। आचार्य कुमारजीव के पिता कुमारयण मूलरूपेण कश्मीर के राजवंश के तरुण थे। उन्हें राजनीति के कुचक्रो से वितृष्णा हो गई और उन्होने भिक्षु-दीक्षा ले ली। वे पर्यटन करते हुए मध्य एशिया में खोतन के निकटवर्ती कूचा नामक राज्य मे पहुँच गए। वहाँ कुछ दिन रहकर उन्होने भिक्षु-पद त्याग दिया और कूचा के राजा की अत्यधिक सौन्दर्य शालिनी बहिन जीवा से विवाह कर लिया। राहुलजी ने उसे 'नीली आँखो वाली सुन्दरी' लिखा है। कुमारयण के पुत्र उत्पन्न हुआ। पिता का नाम कुमारायण और माता का नाम जीवा। पुत्र का माता-पिता का नाम सम्मिलित नाम पड़ा, 'कुमारजीव'।

कुमारजीव के जन्म के पश्चात् कुमारायण अधिक जीवित न रहे। जीवा अपने भाई कूचा के राजा के अत्यधिक आग्रह के बाद भी कुमारजीव को लेकर कश्मीर चली आई। कुमारजीव की शिक्षा-दीक्षा कश्मीर के जयेन्द्र विहार तथा अन्य बौद्ध विहारों में हुई। बाद में उन्होंने एक प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् के रूप मे विश्व-व्यापी कीर्ति अर्जित की।

---

1 'कला गुरु' आनन्द कुमारस्वामी, बैरिस्टर मुकुन्दी लाल 'प्राक्कथन'

बहुत कुछ एसा ही संयोग हुआ, आचार्य कुमारस्वामी क साथ भी। उनक पिता सर-मुत्तू कुमारस्वामी भारतीय मूल के सिंहली विद्वान थे। उन्होंने तमिल भाषा से 'हरिश्चन्द्र' नामक नाटक का अंग्रजी अनुवाद किया तथा पाली के मूल-ग्रन्थ 'सुत्त निपात' का भी अग्रेजी भाषान्तर किया था। इसक अतिरिक्त उन्होंने 'दन्त यरा' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना भी की जिसमें भगवान बुद्ध क पवित्र दाँत की कथा दी गई है। सर मुत्तू कुमारस्वामी पर सम्राज्ञी विक्टोरिया की कृपा थी। वे सोलह वर्ष स लन्दन में बैरिस्टरी कर रहे थे। और उनकी गणना लन्दन के सम्भ्रान्त नागरिकों में की जाती थी। उन्होंने केंट निवासी श्री विलियम जॉन वीवी की कन्या कुमारी एलिजाबथ वीवी से विवाह किया। यह परिवार मूल रूप से आयरलैंड का था। सर मुत्तू कुमारस्वामी क इसी पत्नी स 22 अगस्त 1877 को, कोलम्बो में आनन्द कुमारस्वामी ने जन्म लिया। एलिजाबेथ कॅट की कन्या थी अत: कुमारस्वामी के नाम के साथ भावनात्मक रूप से उन्होंने 'कॅन्टिश जोड़ दिया। इस प्रकार आनन्द का पूरा नाम हुआ, आनन्द कैन्टिश कुमारस्वामी। आनन्द अभी दो वर्ष के भी न हुए थे कि परिवार पर वज्रपात हुआ। 4 मई, सन् 1879 को सर मुत्तू कुमारस्वामी का निधन हो गया। श्रीमती एलिजाबेथ कुछ दिनो कोलम्बो में रहकर अपने नवजात शिशु को लेकर पानी के जहाज से लन्दन लौट गईं।

इस प्रकार आनन्द कुमारस्वामी का लालन-पालन और प्राथमिक शिक्षा लन्दन में हुई। इसके पश्चात् वे वाइक्लिक कॉलेज, स्विगफील्ड मे भरती कर दिए गए। सन् 1894 में उन्होने लन्दन विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। आनन्द कुशाग्र बुद्धि के मेधावी छात्र थ। अपनी पितृभूमि का आकर्षण एक दिन उन्हें श्रीलंका खींच लाया। माता प्रकृति ने श्रीलका को मुक्त हाथो से अद्‌भुत सौन्दर्य प्रदान किया है। आनन्द कुमारस्वामी उस पर मुग्ध हो गए और एक वर्ष श्रीलंका मे रहकर वहाँ क वृक्ष-वनस्पति और खनिज पदार्थों का अध्ययन करते रहे। वनस्पति शास्त्र (बोटनी) और भू-गर्भ शास्त्र (जियोलॉजी) उनके प्रिय विषय बन गए। फिर वे लन्दन लौट गए और इन्ही विषयों में उन्होन लन्दन विश्वविद्यालय से स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण की और फिर वहीं से डाक्टरेट प्राप्त की। आनन्द कुमारस्वामी को श्रीलंका ने पुनः अपनी ओर खीचा। कई स्वर्णपदको से अलंकृत सन् 1903 में वे अपनी पितृ-भूमि में वापस लौटे। श्रीलंका सरकार ने उनको भू-गर्भ विभाग के निदेशक पद पर नियुक्त कर दिया। उस समय उनकी आयु केवल 26 वर्ष की थी। उन्होने तीन वर्ष अर्थात् सन् 1906 तक इस पद पर बड़ी ज़िम्मेदारी के साथ कार्य किया।

वे लन्दन मे पले, पढे और बड हुए थ, जो कि अग्रेजों की समृद्धिवती राजधनी थी। श्रीलंका अंग्रेजो का एक उपनिवेश था। दोनों में अन्तर होना तो स्वाभाविक था। उन दिनो श्रीलंका एक अलग देश नही अपितु भारत का ही एक

अग माना जाता था। मुझे अपने बचपन की याद है, भारत के मानचित्र मे हम लाग श्रीलंका और बर्मा दिखलाते थ।

श्रीलंका की अपनी समस्याएँ थीं। समाज सुधारों की अपेक्षा कर रहा था। डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी ने इसी भावना से प्रेरित होकर 'सिलोन रिफार्म सोसाइटी' की स्थापना की। व स्वयं उसके अध्यक्ष पद के भार को संभालने लगे। वहाँ के बुद्धिवादी तरुणो को एक कार्य क्षेत्र मिला। आनन्द कुमारस्वामी का श्रीलका विषयक लेखन सन् 1900 में ही शुरू हो गया। जबकि वे लन्दन में थ। यह बडे महत्व की बात है कि उनका प्रथम शोध-पत्र 'दि सीलोन रॉक्स एण्ड ग्रेफाइट' अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के ज्योलॉजिकल सोसाइटी के त्रैमासिक मुख-पुत्र मे अगस्त सन् 1900 में प्रकाशित हुआ जबकि उनकी आयु केवल 23 वर्ष की थी। इसक पश्चात् उनकी लेखनी अपने प्रिय विषय 'भू-गर्भ शास्त्र' पर अबाध रूप से चलने लगी। मात्र छ: वर्ष की अवधि में सन् 1906 तक उनके 62 शोध-पत्र देश और विदेश के सम्मानित पत्रो में प्रकाशित हुए। श्रीलंका मे आकर वे शिक्षा-संस्थानो मे जाकर व्याख्यान भी देते। हिन्दू कालेज, जाफना में दिया गया उनका विद्वतापूर्ण भाषण बहु प्रशसित हुआ। उसका तमिल अनुवाद भी साथ-साथ होता गया और फिर स्थानीय पत्रों मे प्रकाशित भी हुआ।

डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी श्रीलका में आकर वहाँ के शिल्पियों स भी मिले और मन मे एक नई खिडकी खुली। श्रीलंका के परम्परागत शिल्प ने उन्हे विमुग्ध किया, विशष रूप से कैण्डी के कारीगरों के हस्त-शिल्प ने। इस नन्हे से बीज ने ही आगे चलकर एक विशाल वट-वृक्ष का रूप धारण कर लिया। सन् 1905 मे उनके लेख 'कैण्डी के कुछ हस्त-शिल्प' (सम कैण्डियन क्राफट्स), कैण्डी के दॉत के कंघे (कैण्डियन हॉर्न कूक्स)। कैण्डी का आधुनिक वास्तु (रीसेन्ट कैण्डियन आर्चिटैक्चर) और कैण्डी का अल्पज्ञात साहित्य (अनफेमिलियर कैण्डियन लिटरेचर) आदि प्रकाशित हुए, जिन्होने श्रीलंका के बुद्धिवादी वर्ग का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। 'भू-गर्भ शास्त्र' पर तो लेखों की एक पृथक धारा चल रही थी।

सन् 1906 मे अपनी नौकरी से एक लम्बी छुट्टी लेकर डॉ0 कुमारस्वामी प्रथम बार भारत आये। वे कलकत्ता आकर जोड़ासांको में गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अतिथि बने। ठाकुर परिवार से कुमारस्वामी जी का जो स्नेह और आत्मीयता का सूत्र जुड़ा, वह जीवन-भर चलता रहा। स्वयं गुरुदेव ही नही, उनक परिवार के अन्य सदस्यों सर्वश्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, गगनेन्द्र नाथ ठाकुर तथा समरेन्द्र नाथ ठाकुर भी उनके घर जैसे व्यक्ति बन गए। कलाचार्य श्री नन्दलाल बसु का एक रेखा-चित्र है, जिसमे डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी ठाकुर परिवार क कुछ सदस्यों तथा कलाचार्य के साथ दिखलाए गए हें।

कलकत्ता में डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी ने भारत मे सिहल (श्रीलका) क

प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्धों पर कुछ व्याख्यान भी दिए जिन्हें सुधीजन ने सराहा। वह थी भारत पर कुमारस्वामी जी की प्रतिभा की पहिली छाप। कलकत्ता का जन-मानस उन दिनो उद्वेलित था। राष्ट्रीय भावनाएँ करवट बदल कर जागने वाली थी। 'स्वदेशी' का महामत्र गूंज रहा था। डॉ0 कुमारस्वामी के मन को 'स्वदेशी' की भावना ने छुआ। सन् 1907 मे मद्रास से प्रकाशित 'दि इण्डियन रिव्यू' में उनका लेख 'स्वदेशी' प्रकाशित हुआ।

सन् 1907 मे भारत से श्रीलका लौटने के पश्चात् दोनो देशों के सास्कृतिक सम्बन्धों पर डॉ0 कुमार स्वामी का लेख 'इण्डिया एण्ड सीलोन' कोलम्बो के 'सीलान नेशनल रिव्यू' में छपा। वे दिनों-दिन भावना के स्तर पर भारत से जुड़ते जा रहे थे। भारत की प्राचीन कला परम्परा ने उन्हे विमुग्ध कर दिया था। भारत के लक्षण सम्पन्न मूर्ति-शिल्प, राजस्थानी और कांगड़ा कलम के चितेरों की चित्र साधना ने उनके मन का स्पर्श कर लिया और बगाल चित्र-शैली के अभ्युदय में उन्हे नव-उषा का आलोक झलकता दिखाई देने लगा था। फिर भी सब कुछ बहुत सतुलित था। डॉ0 कुमार स्वामी में जहाँ पूर्व और पश्चिम का मिलन हुआ था वहीं विज्ञान की तर्क-संगत व्याख्या और कला की भावनाशीलता का भी उनमें विरल संयोग हुआ था। इस प्रकार के उदाहरण विश्व में कम ही मिलते हैं।

डॉ0 कुमार स्वामी के दो अत्यन्त महत्वपूर्ण लेख सन 1907 में ही कलकत्ता के प्रख्यात् पत्र 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुए। उन दिनों 'माडर्न रिव्यू' जिसका संचालन और सम्पादक श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय कर रहे थे सारे भारत मे बड़ी रुचि से पढ़ा जाता था। डॉ0 आनन्द कुमार स्वामी का यह लेख वस्तुत: दो किश्तो मे छपा था। उसका शीर्षक था 'भारतीय कला की वर्तमान स्थिति' (दि प्रेजेन्ट स्टेट ऑफ् इण्डियन आर्ट) उनमे एक तत्कालीन मूर्ति-शिल्प और चित्रकला पर था और दूसरा 'वस्तु-शिल्प और हस्त-कला' पर। डॉ0 कुमारस्वामी ने ठाकुर परिवार के साथ रह कर भारतीय कला के पुनर्जागरण की स्थिति का आंकलन कर लिया था और यद्यपि वे भारत मे इस यात्रा मे थोड़े ही समय रहे किन्तु कलाचार्य श्री अवनीन्द्र नाथ ठाकुर और उनकी शिष्य परम्परा से वे भली-भाँति परिचित हो गए।

डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी के प्रिय शिष्य तथा 'गढ़वाल चित्रकला' के प्रख्यात् लेखक श्री मुकुन्दी लाल बैरिस्टर ने लिखा है--

"कलकत्ता से श्री लंका लौटकर उन्होंने कला के प्रति अपनी अत्यधिक रुचि दिखलाई। कला और राष्ट्रीयता के प्रचार के हेतु उन्होंने वहाँ 'नेशनल रिव्यू' की स्थापना की। इस पत्रिका में भारतीय कला और राष्ट्रीयता पर उनके बड़े विद्वता पूर्ण लेख प्रकाशित होने लगे।" बैरिस्टर साहब ने आगे लिखा है--"प्रतीत होता है कि आनन्द कुमारस्वामी वास्तव मे भारतीय कला, संस्कृति और आदर्शों की स्थापना के लिए ही इस संसार मे आये थे। श्रीलका की सरकार की सेवा मे

उनका मन नहीं लगा और न उनकी सरकारी नीतियों के साथ पटी क्योंकि वे स्वतन्त्र विचारधारा वाले राष्ट्रीय व्यक्ति थे। श्रीलंका की सरकारी नौकरी से इस्तीफा देकर वह वापस लन्दन चले गए। वहाँ पहुँचकर उन्होने लन्दन विश्वविद्यालय स 'विज्ञान' मे 'डाक्टरेट' प्राप्त की।''

डॉ0 कुमारस्वामी का क्षेत्र मूल-रूप से विज्ञान था और दृष्टिकोण बहुत सुलझा हुआ और वे बिना लाग-लपेट के सच्चाई को उसके तथ्यों के साथ रख देने की क्षमता रखते थे। उनकी संकल्प शक्ति बडी दृढ थी। सन् 1909 मे उनकी दूसरी भारत यात्रा हुई।

डॉ0 आनन्द कुमार स्वामी की इस भारत यात्रा से पहले भारतीय विषयो पर उनके अनेक लेख प्रकाशित हो चुके थे और अब वे भारतीय कला के सम्बन्ध मे अपने विचार तथा निष्कर्ष प्रस्तुत कर रहे थे अतः भारत के बुद्धिवादियों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। सन् 1908 में ही उनका एक लेख, 'भारतीय कला पर यूनानी प्रभाव' (दि इन्फ्लुएन्स ऑफ ग्रीक्स आन इडियन आर्ट) प्रकाशित हुआ। वस्तुतः यह उस व्याख्यान पर आधारित था जो उन्होंने कापेनहेगन के अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य महासम्मेलन में दिया था।[1] उनके दो अन्य लेख 'भारत मे शिक्षा' और 'भारतीय संगीत' क्रमशः माडर्न रिव्यू हिन्दुस्तान रिव्यू में प्रकाशित हुए। यह दोनो पत्र कलकत्ता से प्रकाशित होते थे। कलकत्ता बुद्धिवादियों और विद्वानों का केन्द्र था ही उन दिनों, दिल्ली से पहले भारत की राजधानी भी था, जहाँ गवर्नर जनरल का आवास था। इसी वर्ष माडर्न रिव्यू में ही उनका एक अन्य महत्वपूर्ण लेख 'भारतीय शिल्पी' (दि इन्डियन क्राफ्ट्स मैन) दो किश्तों में छपा। उनमें से एक में ग्रामीण शिल्पियों और दूसरा महानगरो में कार्य करने वाले शिल्पीसमूहों की कला और उनकी समस्याओं पर आधारित था।

इसी वर्ष उनकी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तक 'मध्यकालीन सिंहली कला' (मिडिवल सिंहालीज आर्ट) प्रकाशित हुई। यह ग्रन्थ-रूप मे उनकी प्रथम कृति थी। उसने न केवल विश्व में कला समीक्षकों और विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया अपितु डॉ0 कुमारस्वामी को एक अन्तर्राष्ट्रीय कीर्ति प्रदान की। बड़े आकार की लगभग साढ़े चार सौ पृष्ठ के इस ग्रन्थ को स्वयं डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी ने अपने रेखा-चित्रों से अलंकृत किया है। प्रख्यात् विद्वान् डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल ने इस ग्रन्थ के बारे में लिखा है--

''इस ग्रन्थ में सिंहल के प्राचीन उद्योग-धन्धों और कलाओं का स्थानीय पारिभाषिक शब्दावली के साथ विशद् अध्ययन है। योरोप की अन्य भाषाओ मे भी इस प्रकार के अध्ययन बहुत कम हैं। देशीय भाषाओं के द्वारा प्राचीन कला के

---

1 कोपेनहेगन के सम्मेलन में डॉ0 कुमारस्वामी ने यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि बुद्ध मूर्ति सबसे पहले, भारत में मथुरा कला मे बनाई गई।

वर्णन और अध्ययन की दृष्टि से यह ग्रन्थ आज भी समग्र देश के लिए और प्रत्येक प्रान्तीय साहित्य के लिए एक आदर्श उपस्थित करता है।

सन् 1909 में डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी कलकत्ता आकर श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर के जोड़ासांको स्थित आवास पर ही ठहरे। वे वहाँ तीन सप्ताह रुककर वाराणसी चले गए और वहाँ वे डॉ0 भगवानदास जी के अतिथि रहे। भारतरत्न डॉ0 भगवानदास देश की विभूतियों में से थे। मुझे उनके दर्शन का सौभाग्य तो नहीं मिला लेकिन सन् 1964 के लगभग जब मैं एक कार्यवश बाबू श्री प्रकाश जी से मिलने गया तब मुझे इन ऋषि दार्शनिक की कांस्य प्रतिमा के दर्शन हुए - लम्बी दाढ़ी, प्रशस्त भाल! वे मुझे किसी प्राचीन ऋषि जैसे लगे। डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी भारत आने से पहले लन्दन में कैक्स्टन हाल की उस सभा में सम्मिलित हुये थे, जिसमें बंग-भंग के विरोध में लाला लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल ने भाषण दिये थे।

वाराणसी भारतीय संस्कृति और हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों का केन्द्र है। वाराणसी और कलकत्ता में वे उस युग के प्रख्यात् विद्वानों से मिले। उन्होंने सारनाथ भी देखा और फिर भारतव्यापी यात्रा पर निकल गए। इस बार उन्होंने देवालयों में जाकर उनकी आराध्य प्रतिमाओं के प्रत्यक्ष दर्शन किए। कहा जाता है कि उन्होंने वैष्णव धर्म की विधिवत दीक्षा ली। बंगाल चित्र शैली के चित्रकार श्रीयुत असित कुमार हाल्दार ने उनका जो चित्र बनाया है, उसमें उन्हें भारतीय ढंग की पगड़ी पहने दिखलाया गया है। डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी का एक चित्र मुझे विशेष प्रिय है, जिसमें वे मद्रासी ढंग की पगड़ी पहने, तथा लम्बा कुरता पहने कोई चित्र देख रहे है। गले मे दुपट्टा पड़ा है। 27-28 वर्ष के तरुण। वे कुछ दिनों तक उत्तर प्रदेश के नगरो मे घूमते रहे।

सन् 1910 में वे पुनः भारत आये। इस बार उन्हें प्राच्य कला की भारतीय परिषद् (इंडियन सोसाइटी आफ् आरिएन्टल आर्ट) कलकत्ता ने आमंत्रित किया था। प्रख्यात् कला-इतिहासकार तथा 'रूपम्' के सम्पादक श्रीयुत अर्द्धेन्दु कुमार गांगुली से डॉ0 कुमारस्वामी के निकट सम्बन्ध बन चुके थे। यह एक संयोग की ही बात है कि ललित-कला अकादमी, नई दिल्ली का प्रथम 'कुमारस्वामी स्मृति भाषण' गांगुली महोदय द्वारा ही दिया गया था। इस व्याख्यान मे उन्होंने दिवंगत सरस्वती पुत्र की समस्त कृतियों का समीक्षात्मक परिचय दिया था। उन्हीं दिनों उत्तर प्रदेश (तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश) की सरकार ने इलाहाबाद में एक कला-प्रदर्शनी का आयोजन किया था। अंग्रेजों की कला प्रदर्शनियों में रुचि रही है। सन् 1902 मे दिल्ली मे एक विशाल हस्त-कला प्रदर्शनी का आयोजन हुआ था, जिसमें न केवल ब्रिटिश शासित प्रदेश से अपितु देशी राज्यों, नेपाल तथा

---

1. कला और संस्कृति, इलाहाबाद, 1952

बर्मा से भी 'कला' की सुन्दरतम कृतियाँ मगाई गई थीं। सर जान ह्वाट न इसका केटलाग 'इण्डियन आर्ट एट देहली' सम्पादित किया और प्रिंसिपल पर्सी ब्राउन ने उस अपने रेखा-चित्रों से अलकृत किया। इस ग्रन्थ की विशेषता यह थी कि उसमे अनेक चित्रों क साथ ही हस्त-शिल्प की विधा विशेष, हाथीदाँत का शिल्प, बीदर क बर्तन, जयपुर की मीनाकारी और मृत्तिका-शिल्प आदि का इतिहास भी दिया गया था।

इलाहाबाद की इस कला प्रदर्शनी में सरकार न डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी को कला-विभाग के सयोजक का कार्य भार सौंपा। उनसे उपयुक्त व्यक्ति था भी कौन? प्रदर्शनी मे समग्र भारत की कला कृतियो का प्रतिनिधि रूप मे संग्रहीत करना था। यह डॉ0 कुमार की रुचि का कार्य था। इस कार्य को उन्होने अत्यन्त परिश्रम पूर्वक किया और मूर्ति शिल्प, हस्त-कला और लघु चित्र कला के अनुपम नमूने इसमें एकत्रित किए गए थे। कुमारस्वामी की पारखी दृष्टि ने सारी वस्तुओ का चयन स्वयं किया था। उन्ही दिनों विश्व प्रसिद्ध कलाकार श्री रोदस्टीन का भी भारत आगमन हुआ। बैरिस्टर मुकुन्दी लाल ने लिखा है कि मैंने न केवल इलाहाबाद प्रदर्शनी में 'गाइड' का काम किया अपितु अपने गुरु श्री कुमारस्वामी के आदेश से उनको वाराणसी और सारनाथ भी घुमाने ले गया। वहाँ उन्होंने गगा के कई दृश्यों, घाटों आदि को अपनी तूलिका से चित्र-रूप दिया। उन्होंने साधुओं के भी कुछ चित्र बनाये।[1] मुकुन्दी लाल जी ने लिखा हे--"सन् 1910 में डाक्टर कुमारस्वामी इलाहाबाद की विख्यात् प्रदर्शनी के कला-विभाग क संरक्षक नियुक्त हुए तब मैं इलाहाबाद मे विद्यार्थी था। सन् 1908 से सन् 1917 तक के दीर्घकाल मे मुझे डाक्टर आनन्द कुमार स्वामी के सम्पर्क मे रहने का सौभाग्य प्राप्त रहा। इसी दौरान मुझे भारतीय कला के आदर्शों, नियमों उसकी विशेषताओं और परम्परा के विषय मे उनकी विचार-धारा का ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिला।" सन् 1913 से 1917 तक कुमारस्वामी जी लन्दन में रहे। उन दिनों मुकुन्दीलाल जी वहाँ बैरिस्टरी पढ़ते थे और उनके पास जाया करते थे।

डॉ0 आनन्द कुमार स्वामी न संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) की इलाहाबाद प्रदर्शनी के प्राचीन तथा आधुनिक चित्रो तथा मूर्तियो का मि0 एन0 ब्लाउन्ट के साथ एक कैटलाग भी तैयार किया था, जिसे कलकत्ता की इन्डियन सोसाइटी आफ ओरिएन्टल आर्ट ने प्रकाशित किया। बाद में डॉ0 कुमार स्वामी ने उस प्रदर्शनी पर जनवरी 1911 के हिन्दुस्तान रिव्यू क अक में एक स्वतन्त्र लेख छपवाया। उत्तर प्रदेश और दक्षिण भारत के भ्रमण में डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी ने

---

1 कलागुरु कुमार स्वामी, लखक बैरिस्टर मुकुन्दी लाल प्रकाशन विभाग नई दिल्ली 1978, पृष्ठ 56

एक बड़ा निजी संकलन भी किया था। वे चाहते थे कि बनारस में एक संग्रहालय बने और यह कला निधि वहाँ सुरक्षित रहे। उन्होंने एक अपील भी निकाली किन्तु किसी संस्था ने, यहाँ तक कि महामना मदनमोहन जी मालवीय ने भी इसे गम्भीर रूप में नहीं लिया और वह संग्रह तथा बाद में कुमारस्वामी साहब ने सन् 1911 स 1917 तक जो संकलन किया वह सभी विवश होकर उन्हें सन् 1917 मे अमेरिका के बोस्टन संग्रहालय में ले जाना पड़ा। यह सच है कि भारत कला भवन के रूप मे राय श्रीकृष्णदास ने काशी में संग्रहालय स्थापित कर दिया, किन्तु वह अमूल्य निधि भारत ने सदा के लिए खो दी। आज बोस्टन म्यूज़ियम संसार में भारतीय कला के सबसे सम्पन्न संग्रहालयों में गिना जाता है। जो सामग्री डॉ0 कुमारस्वामी के साथ बोस्टन गई, उसके वहाँ उन्होंने वृहत कैटलाग तैयार किए जो बोस्टन संग्रहालय से ही प्रकाशित हुये।

1. तथा 2. भूमिका तथा भारतीय मूर्ति-शिल्प, 1923

4. जैन चित्र और पाण्डुलिपियाँ, 1924

5. राजपूत चित्र-कला, 1926

6. मुगल चित्रकला, 1930

यों तो आज डॉ0 कुमारस्वामी के अनेक ग्रन्थ दुर्लभ हो चुके हैं किन्तु कैटलाग के मूल्य का तो आज कोई अनुमान ही नहीं लगा सकता। वहाँ के भारतीय मूर्ति-शिल्प में नेपाल की कला-निधि, विशेष रूप से वहाँ की कांस्य तथा धातु प्रतिमाओं का भी समावेश किया गया है। कुमारस्वामी साहब तीसरे खण्ड में क्या लेना चाहते थे और वह क्यों प्रकाशित नहीं हुआ यह आज नहीं कहा जा सकता। किसी ने सच ही कहा है कि जब प्रजा की कला-दृष्टि पथरा जाती है तब उसकी कला-कृतियाँ भी उसे छोड़कर चली जाती हैं। हमारे साथ भी यही हुआ। भारत मे संग्रहालयों से बाहर टूटे-फूटे मन्दिरों में जो अद्भुत सौन्दर्य शालिनी कृतियाँ पड़ी थीं वे तस्कर उठा ले गए और आज वे विदेशी संग्रहालयों की बीथिकाओं की शोभा बढ़ा रही हैं। कल तक जो हमारी चीज थी, आज बिना दूसरों की अनुमति के हम उनका चित्र भी नहीं छाप सकते कैसी दयनीय स्थिति है? लेकिन इसके लिए जिम्मेदार कौन है? हमारी अपनी उपेक्षा और लोभ-वृत्ति। पूर्वी देशो की कला कृतियो के 'ओरिएन्टल आर्ट, लन्दन' मे विज्ञापन के रूप मे चित्र छपते और साथ ही सम्पर्क के लिए व्यापारी का नाम भी छपता इस वृत्ति को क्या कहा जाय? अपना पैसा खोटा तो परखने वाले का क्या दोष? कुमार स्वामी जी की तो विवशता थी, पर आज तो धन-लोभ में यह सब किया जा रहा है।

डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी बहुभाषाविद् थे। वे अंग्रेजी, फ्रैंच, जर्मन, लैटिन, ग्रीक, संस्कृत और पाली भलीभाँति जानते थे। भारत में आकर उन्होंने हिन्दी का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया था। इसके अतिरिक्त वे फारसी तमिल सिंहली

इटलियन, स्पेनिश और डच भाषाएँ भी जानते थ। उन्होंन अपन ग्रन्थ ला स्कल्पचर डे भरहुत' और 'लास्कल्पचर डे बोधगया' मूलरूप स फ्रेंच में ही लिखे थ। इन दोनों ग्रन्थों की फ्रेंच क विद्वानो ने मुक्त कंठ स सराहना की और 'आर्सस एशियाटिक' (Ars Asiatique) जैसे पत्रो में उनकी समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं। यह दोनों पुस्तकें भारतीय कला क अध्येताओं के लिए आधार-शिलाएँ है।

सन् 1913 से सन् 1917 तक डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी लन्दन मे रहे किन्तु बीच-बीच मे विभिन्न देशों की कला-यात्राएँ करते रहे। उन्होंने नेपाल, तिब्बत, जापान आदि देशों की यात्राएँ कीं। और वहाँ की कला-कृतियो को प्रत्यक्ष देखा। भूगर्भ-विज्ञान, और भारतीय कला तो उनक प्रिय विषय थे ही जीवन के अंतिम वर्षों मे उनका ध्यान दर्शन और अध्यात्म पर अधिक केन्द्रित हो गया था। यों उनकी रुचि के अन्य विषय संगीत, लोक-गीत, प्रतीकवाद, पुरातत्व धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन आदि थे। वे राष्ट्रीय के प्रतिपादक थे। इस दिशा मे उनकी एक पुस्तक 'आर्ट एण्ड स्वदेशी' सन् 1911 मे मद्रास से गणेश प्रेस द्वारा प्रकाशित हुई। सती प्रथा के वे घोर विरोधी थे। उन्होंने उसक विरोध मे सोसालॉजिकल सोसाइटी लन्दन मे जो भाषण दिया, वह पुस्तिकाकार भी प्रकाशित हुआ।

'मध्यकालीन सिंहली कला' (मिडिवल सिहालीज आर्ट) के पश्चात् उनका दूसरा ग्रन्थ 'भारत और सिंहल की कला और कारीगरी' (दि आर्टस एण्ड क्राफ्ट्स ऑफ इंडिया एण्ड सीलोन) एडिनवर्ग से सन् 1913 में प्रकाशित हुई। उसका फ्रैंच भाषान्तर भी ब्रसेल्स मे सन् 1924 मे छपा। इसके प्रथम खण्ड में पहले भारतीय कला की प्रकृति अर्थात् उसके आदर्श और सिद्धान्तो पर विचार प्रस्तुत किए गए थ। श्रीयुत हैवल की भाँति डॉ0 कुमारस्वामी का भी मत था कि भारतीय कला का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से है और भाषाओं की अभिव्यक्ति ही कृति की प्राण है। डॉ0 कुमारस्वामी ने यह अनुभव किया है कि भारतीय मूर्तिशिल्प जो अपनी विशिष्टता और विविधता से पाश्चात्य देशों के निवासियो को भ्रमित करता रहा है, अब तक सही ढंग से समझा नहीं गया। कुमारस्वामी ने उसी पृष्ठिभूमि को समझाते हुए उसकी विशिष्टताओ और लाक्षणिकताओं को स्पष्ट किया।

इस ग्रन्थ में उन्होंने मूर्तिकला, चित्रकला और वास्तुकला के अतिरिक्त धातु की कारीगरी, हाथीदाँत का मूर्ति-शिल्प, मीनाकारी, काष्ठकला, मृत्तिका-शिल्प और पत्थर की पच्चीकारी का भी स्वतंत्र लेखों के रूप मे समावेश किया। ग्रंथ के दूसरे खण्ड मे उन्होंने मुगल वास्तु कला, और मुगल चित्रकला पर अपना विवेचन प्रस्तुत किया। इस प्रकार यह ग्रन्थ भारत और श्रीलंका की कलाओं का एक प्रामाणिक ग्रन्थ बन गया और एक अभाव की पूर्ति हुई।

उनकी अन्य पुस्तक 'विश्वकर्मा' में भारतीय चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य आर हस्तकला के सौ चित्र समीक्षात्मक परिचय के साथ प्रकाशित किये गये थे।

इसकी प्रस्तावना प्रख्यात् कला-समीक्षक श्रीयुत एरिक गिल ने लिखी थी और लन्दन के प्रख्यात प्रकाशक ल्यूज़ाक एण्ड कम्पनी ने इसे सन् 1913-14 में प्रकाशित किया। 'विश्वकर्मा' में ही सबसे पहले सिंहमारि, जावा की अद्भुत सौन्दर्यवती प्रज्ञापारिमिता का चित्र प्रकाशित हुआ। वस्तुत. वह जावा की रानी देदास की मूर्ति थी जिसमें दवत्व आरोपित किया गया था।

डॉ0 कुमारस्वामी की 'राजपूत पेन्टिग्स' उनकी वर्षों की खोज और कला, साधना का फल है। इस ग्रन्थ मे पहली बार राजस्थानी चित्रकला की विविध कलमों (शैलियो) और बसाहली, कागड़ा आदि पहाडी शैलियों की व्याख्या और विवेचन प्रस्तुत किया गया है। गढ़वाल शैली की ओर डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी का ध्यान श्रीयुत मुकुन्दीलाल बैरिस्टर ने आकृष्ट कराया। कांगडा चित्रशैली की सौन्दर्यमयी आकृतियों और रगों की छटा ने विश्व के कला- रसिको को विमुग्ध कर दिया। यह ग्रन्थ दो खण्डों में है, एक में मूल व्याख्या तथा दूसरे मे इकरगे और रंगीन चित्र। यह भी चित्र कुमारस्वामी साहब की अपनी खोज थे और इस ग्रन्थ में प्रथम प्रकाशित हुए।

'शिव के नृत्य' (डान्स ऑफ शिव), डॉ0 कुमारस्वामी के विविध पत्रों मे प्रकाशित ग्यारह लेखों का संकलन है। 'डान्स ऑफ शिव' जिसमें नटराज शिव की कांस्य-मूर्ति की प्रतीकात्मक व्याख्या की गई है। सबसे पहले मद्रास की 'सिद्धात-दीपिका' में प्रकाशित हुआ था। यह लख इस विषय का प्रथम लेख है जो मद्रास संग्रहालय की तिरूबन्गाडु की चोल कालीन कांस्य- प्रतिमा पर आधारित है। 'कला की हिन्दू दृष्टि' (दि हिन्दू व्यू ऑफ आर्ट) की प्रतिष्ठित पत्रिका 'दि क्वस्ट' में प्रकाशित हुआ था। 'डान्स ऑफ शिव' डॉ0 कुमारस्वामी की एक बहुत लोकप्रिय पुस्तक है। विविध देवताओं की बहु-भुजी मूर्तियों के सम्बन्ध में भी इसमे एक लेख दिया है। जो विदेशी कला-समीक्षको के भ्रम का निराकरण करता है।

इन्ही दिनो डॉ0 कुमारस्वामी के दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख जिन्होंने भारत के बुद्धिवादियो तथा विश्व के विद्वानों को उनकी ओर आकृष्ट किया, प्रकाशित हुए। एक था, मानव-कल्याण मे भारत की देन (ह्वाट इन्डिया कंट्रीब्यूटेड टू ह्यूमन वेलफेयर) और दूसरा था, 'विश्व-संस्कृति को भारत का योगदान' (इंडियाज् शेयर इन वर्ड सिविलीजे़शेन)। यह लेख लन्दन और न्यूयार्क के पत्रों में प्रकाशित हुए थे। डॉ0 कुमारस्वामी ने विदेशों में अध्ययन करने वाले छात्रों से एक बार पूछा था, "आप इस देश से लेने आए है। क्या उसे देने के लिए भी आपके पास कुछ है? स्पष्ट है कि कला-गुरु का संकेत भारत के अध्यात्म, दर्शन और भारतीय संस्कृति के आधारमूल तत्वों से था।

सैकड़ो विविध विषयों पर लिखे गए लेखों के अतिरिक्त डॉ0 कुमारस्वामी द्वारा लिखित पुस्तकों की संख्या भी काफी है इस छोटे से लेख का उद्देश्य उनके

ग्रन्थों की समीक्षा नही अपितु सामान्य भारतीय को विशष रूप मे राष्ट्र के भावी कर्णधार तरुण विद्यार्थियों को इस महान् भारतीय क व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय देना है। डॉ0 कुमारस्वामी के अन्य ग्रन्थो म 'इन्ट्रोडक्शन टू ईंडियन आर्ट', ट्रान्सफोर्मेशन ऑफ नेचर ऑफ इन्डियन आर्ट; यक्षाज (दा खण्ड), बुद्ध एण्ड गोस्पिल ऑफ बुद्धिज्म, दी मिथ्स ऑफ हिन्दूज एण्ड बुद्धिस्ट (भगिनी निवेदिता के साथ) और हिस्ट्री ऑफ इन्डियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट, मुख्य है। बोद्ध मूर्ति-विज्ञान पर उनका ग्रन्थ अद्‌भुत है।

डॉ0 कुमारस्वामी भारतीय प्रतीको और अभिप्रायो का उत्स वेदो मे देखते हैं। बौद्ध वाड्मय मे एक शब्द आता है-- निर्वाण'। भगवान् बुद्ध की तपस्या का लक्ष्य बुद्धत्व और बुद्धत्व का ध्येय निर्वाण था। डॉ0 कुमारस्वामी की दृष्टि मे निर्वाण मृत्यु अथवा शरीर का अत नहीं है अपितु वह एक ऐसी स्थिति है जो तथागत के मार्ग का अनुसरण करने से जीवनकाल में ही प्राप्त हो सकती है।

डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी ने अपने मननपूर्ण ग्रन्थों के द्वारा हमे भारतीय कला के स्वरूप, आदर्श और सिद्धान्तो से परिचित कराया। उन्होने कहा कि कला किसी वस्तु का ज्यों का त्यों देखा गया, यथावत् चित्रण नहीं हैं कलाकार मूलत: योगी होता है। उसका हृदय दर्पण की भाँति स्वच्छ होता है, जब वह योगी की भाँति ध्यानावस्थित होता है तब उनके मानस-चक्षुओं के आगे आराध्य अथवा वस्तु साकार हो जाती है। शिल्पी उसी को रूप देता है वह मूलभाव-तत्व को ग्रहण करता है साधन-माला में बौद्ध आराध्यो के ध्यान दिय गये हैं। शिल्पी उसी ध्यान के सहारे अपने आराध्य का रूप देखता था और फिर उसे कला-कृति का रूप देता था। किस देवता के हाथ में क्या है? उसके आयुध क्या हैं। उसका वाहन कौन सा है, यह शिल्पशास्त्रो द्वारा निर्देशित रहता था क्योंकि उसके बिना आराध्य की पहचान करनी ही कठिन थी। आराध्य के दोनो हाथों मे खिले हुए कमल देखते ही सूर्य की मूर्ति निश्चित हो जाती थी।

डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी ने दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों का भ्रमण किया था और जावा, स्याम अथवा कम्बोडिया की वास्तु-कृतियों को अपनी ऑखो से देखा था। उनका 'हिस्ट्री ऑफ इन्डियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट' भारतीय दृष्टिकोण से लिखा गया पहला कला-इतिहास है। यह ग्रन्थ आकार में बहुत बड़ा नहीं है, बल्कि तीन सौ पृष्ठों से भी कम का है किन्तु इसमे सार-रूप में सारे शिल्पीय तत्वों और लाक्षणिकताओं का उन्होंने समावेश कर दिया है कुमारस्वामी की पारखी दृष्टि से कुछ भी छूटा नही है इस महान् ग्रन्थ का भारतीय भाषाओ में अनुवाद होना अत्यन्त आवश्यक कार्य है; अद्यतन खोजो के सम्बन्ध मे 'अलग से टिप्पणी दी जा सकती है।

डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी का दृष्टिकोण राष्ट्रीय होते हुए भी सकुचित नही अपितु अत्यन्त व्यापक था। वस्तुत: वे विश्व-मानव थे और इसीलिए

महात्मा गाँधी की अपेक्षा गुरुदेव श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर के अधिक निकट थे। गाँधी जी के प्रति उनके मन मे गहरी श्रद्धा थी, किन्तु जहाँ तक भारतीय कला की बात है, वे उनसे मतभेद रखते थे। यो भी हम देखते है कि गाँधी जी ने कलाचार्य श्री नन्दलाल बोस से हरिपुरा कांग्रेस मे जन जीवन का छूने वाले पोस्टर बनवाए। इन पोस्टरों का यों अपना महत्व है, पर क्या वे नन्द बाबू के 'सती' 'शिव का विष-पान' अथवा 'पार्थसारथी' के स्तर के हैं?

डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी जीवन भर प्रचार मे दूर रहे। मलयेशिया के श्रीयुत दोसाई सिंघम उनके प्रिय शिष्य थे। उनमें पत्र व्यवहार होता रहता था, यद्यपि उन्होंने कभी एक-दूसरे को न देखा था। दोसाई सिंघम साहब चाहते थे कि आचार्य श्री स्वय अपना आत्मचरित लिखें अथवा वे स्वय उनके सम्बन्ध में ग्रन्थ लिखें। उनके इस आशय के पत्र के उत्तर मे डॉ0 कुमारस्वामी ने स्पष्ट लिखा कि उन्हे इस कार्य में कोई दिलचस्पी नहीं है। यदि श्री दुराई सिंघम को उनके सम्बन्ध मे कुछ लिखना ही है, तो वे उनके बारे में गिने-चुने आवश्यक तथ्य दे और पुस्तक का 90 प्रतिशत अंकन उनके कार्य; लेखन की प्रवृत्ति और उनके उद्देश्य पर ही केन्द्रित करे। मई 1946 मे डॉ0 कुमारस्वामी ने उन्हें बोस्टन से जो पत्र भेजा था उसमें उनका यह स्पष्ट निर्देश था, ''मैं आपसे स्पष्ट रूप मे यह कह देना चाहता हूँ कि अपने जीवन-चरित के लिखे जाने मे मेरी बिलकुल दिलचस्पी नहीं है। प्रसिद्ध व्यक्तियों के बारे में, पाठको के तुष्टीकरण के लिए छापना प्रकाशकों की एक भद्दी प्रवृत्ति है।''

सन् 1947 में उन्हे लन्दन मे जो अभिनंदन ग्रन्थ 'आर्ट एण्ड थॉट' भेंट किया गया था, उसमे भी विश्व के अनेक प्रख्यात् कला- समीक्षको तथा इतिहासकारो के अपने रुचि के लेख ही थे। इस ग्रन्थ में भी स्वयं डॉ0 कुमारस्वामी पर बहुत सीमित सामग्री दी गई थी। इसे श्रीयुत के0 भारत ऐयर ने सम्पादित किया था और लन्दन के प्रमुख प्रकाशक ल्यूजाक एण्ड कम्पनी ने प्रकाशित किया था।

डॉ0 कुमारस्वामी के अनेक ग्रन्थ उनके जीवन-काल में ही दुर्लभ और अप्राप्य हो गए थे। यह हर्ष का विषय है कि दिल्ली के एक प्राच्य-विषयों के प्रकाशक मुन्शीराम मनोहरलाल उनका पुनर्मुद्रण कर रहे हैं।

भारत-श्रीलंका, अमेरिका और इंगलैण्ड में सन् 1977 में उनकी जन्मशती का आयोजन किया गया। इन देशो से डॉ0 आनन्द कुमार स्वामी का अपने जीवन-काल मे सम्बन्ध रहा था। भारत सरकार ने उनके सम्मान में डाक-टिकट जारी किया। ललितकला अकादमी, नई दिल्ली के तत्वावधान मे इस अवसर पर एक सेमिनार आयोजित किया गया जिसमे देश के अनेक प्रख्यात् कला-समीक्षको ने दिवगत आचार्य श्री को श्रद्धापूर्ण अंजलि अर्पित की और डॉ0 कुमारस्वामी कृतित्व पर तथा भारतीय कला के विभिन्न पक्षो पर अपने शोध-पत्र पढ़े। बाद में श्रीमती (डॉ0) कपिला वात्स्यायन के [illegible] में वे पुस्तकाकार छपे। ललितकला

अकादमी, नई दिल्ली डॉ0 कुमारस्वामी के सम्बन्ध मे प्रतिवर्ष 'कुमारस्वामी स्मृति भाषण' का आयोजन करती है। इस व्याख्यान-माला में श्रीयुत अर्द्धन्दुकुमार गांगुली, डॉ0 मुल्कराज आनन्द, डॉ0 सी0 शिवराममूर्ति, प्रो0 एल0 के सरस्वती तथा श्रीमती (डॉ0) कपिला वात्स्यायन अपने भाषण दे चुकी है।

जन्मशताब्दी वर्ष मे श्रीलका मे एक प्रमुख मार्ग का नामकरण डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी के नाम पर किया गया। उनके जीवन-वृत पर श्रीयुत चिदानन्द दास गुप्ता ने एक फिल्म बनाई जो देश और विदेश में प्रदर्शित हुई। इसके लिए इस वरिष्ठ कला-समीक्षक को अमेरिका की यात्रा करनी पड़ी।

डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी भारतीय कला के प्रथम ग्रन्थ तालिकाकार थे। उनकी यह बिब्लोग्राफी सन् 1924 में बोस्टन से प्रकाशित हुई थी। मेरे द्वारा सकलित 'बिब्लोग्राफी ऑफ इन्डियन आर्ट' भी इस जन्म-शताब्दी वर्ष में ही 'कुमारस्वामी स्मृति ग्रन्थ' के रूप में प्रकाशित हुई।

❑❑

राय कृष्णदास

राय कृष्णदास

श्री राय कृष्णदास एक इतिहास पुरूष थे। उन्होंने जीवन-भर कला साधना की और उसका अमृत फल राष्ट्र को अर्पित कर दिया। राजनीति क्षेत्र मे जो स्थान जवाहरलाल नेहरू का है, वही कला के क्षेत्र मे राय कृष्णदास जी का है। ज्यों-ज्यों भारत में कला चेतना प्रकाशवान होगी त्यों-त्यों यह सत्य उजागर होगा। वे भारतीय कला के रसज्ञ और मर्मज्ञ तो थे ही, डॉ0 आनन्द के0 कुमारस्वामी अथवा श्रीयुत ई0 वी0 हैवल की भाँति उसके पुनरुद्धारक भी थे। हम सब लोग जो कला के क्षेत्र मे कार्य कर रहे है उन्हें आदर से 'सरकार जी' कहा करते थे और उनकी सलाह हमारी दृष्टि में अति मूल्यवान थी। वे नीर-क्षीर विवेकी थे। कलाकृति का जितना और जैसा मूल्यांकन वे कर लेते थे, उतना उनके समकालीनों में से अन्य कोई नही कर पाता था इसलिए राष्ट्रीय संग्रहालय के अध्यक्ष डॉ0 सी0 शिवराम मूर्ति, डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल तथा डॉ0 मोती चन्द्र जी उनकी राय का आदर करते थे। 'आर्ट परचेज कमेटी' में उनकी सम्मति सर्वोपरि थी।

उन्होंने डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी के स्वप्न को सही अर्थों में पूरा किया था। कुमारस्वामी साहब ने समग्र भारत में पर्यटन करके भारतीय मूर्ति-शिल्प के दुर्लभ नमूने, विविध शैलियों के जीवंत चित्र और हस्त-शिल्प की मनोहारी वस्तुएँ एकत्रित कीं। उनका विचार वाराणसी में एक कला संग्रहालय स्थापित करने का था परन्तु अनुकूल परिस्थितियाँ न मिल पाने के कारण उन्हे अपना यह अति दुर्लभ संग्रह दुःखी मन से बास्टन ले जाना पड़ा। आज उस संग्रह के 'कैटलॉगों' का मूल्य ही हजारों रुपयों में है, उस संग्रह के मूल्य का भला कौन अनुमान लगा सकता है? कुमारस्वामी साहब का काशी में कला-संग्रहालय स्थापित करने का सपना 'सरकार जी' द्वारा पूरा हुआ। सच तो यह है कि यह सब लोग ऋषि-परम्परा के व्यक्ति थे, एक ऐसी पीढ़ी के लोग जो दुर्लभ हो चुकी है और दिन प्रतिदिन और भी दुर्लभ, होती जा रही है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के परिसर में खड़ा भारत कला भवन एक अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का कला संग्रहालय है जो विश्व के कला इतिहासकारो, कला-मर्मज्ञों और शोध करने वाले अध्यताओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। यह केवल भारतीय कला कृतियों का ही एक विरल संकलन नही है अपितु नेपाल की धातु मूर्तियो तथा पट-चित्रो (ककाओं) का एक विशाल और विलक्षण संग्रह है। मुझे यहाँ हिन्दू और बौद्ध आराध्यों की कुछ प्रतिमाएँ देखने को मिलीं जो मुझे नेपाल के काठमाण्डू, पाटन और भाद गाँव के संग्रहालयों में भी देखने को नहीं मिलीं।

पुरातत्व सम्बन्धी या कला की वस्तुओं के सांस्कृतिक महत्व का उचित स्थान संग्रहालय ही है व्यक्तिगत संकलन नहीं। वहाँ इनकी एक विशिष्ट उपयागिता है। मूर्ति चित्र अथवा व्यक्ति चित्र (शबीह) इतिहास की सबसे प्रामाणिक साक्षी हाती है। भरहुत और साँची का मूर्ति शिल्प यदि हमें एक सांस्कृतिक धराहर के रूप में प्राप्त न होता तो हम शुंग सातवाहन काल के नागरिकों के वस्त्र आभूषण, लोक जीवन तथा स्थापत्य से अपरिचित ही रह जाते। मुगल शहन्शाहों की शबीहों या राजस्थानी शैली के चित्रों के कारण ही हम उनको तथा राजस्थान के नृपतियों को पहचानते हैं।

कौन जानता है कि कौन सी कृति कला इतिहास में एक नया पृष्ठ जोड़ देगी। कल्पना कीजिए, यदि उत्खनन के समय कोई अधिकारी या कर्मचारी मोहनजोदड़ों की नर्तकी प्रतिमा को अपने निजी संग्रहालय में रख लेता तो क्या हम धातु प्रतिमाओं के इतिहास की एक महत्वपूर्ण प्रारम्भिक कड़ी से वंचित न हो जाते?

संग्रहालय के अध्ययन कक्ष में बैठकर विषय का विद्वान अथवा अनुसंधाता बीथिका की कला कृति की शैली और उसकी लाक्षणिकता का अध्ययन करता है और उसके आधार पर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। इन तथ्यों का कला इतिहास मे समावेश होता है। एक उदाहरण - भारतीय कला की विदुषी लेखिका कुमारी जया अप्पा सामी ने 'अवनीन्द्र नाथ एण्ड हिज़ टाइम्स' शीर्षक से बंगाल चित्र शैली का एक गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। उसका प्रकाशन हमारे देश की राष्ट्रीय संस्था 'ललित कला अकादेमी' नई दिल्ली द्वारा किया गया। लेकिन क्या उनमे कला गुरु के उन चित्रों का समावेश हो सका जो गुजरात के धनपतियों के बगलों की शोभा बढ़ा रहे हैं। यह भी नहीं मालूम कि आज उन चित्रों की क्या स्थिति है? राज्य सरकारें पुरानी कृतियों का रजिस्ट्रेशन करती हैं लेकिन उससे कला कृति शोध छात्र की आँखों के सामने तो नहीं आ जाती।

जिस दिन आचार्य श्री नन्दलाल बसु का चित्र संग्रह राष्ट्रीय नवकला बीथी (नेशनल गैलरी आफ मार्डन आर्ट, नई दिल्ली) में आया, वह दिन कला जगत् के लिए एक स्मरणीय दिवस था। अब आचार्य बसु के चित्रों पर नये शोध कार्य होंगे। देश के वरिष्ठ कलाविद् श्री कार्ल खण्डालावाला ने अपना वर्षों से एकत्रित सग्रह ''प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई'' को सौंप कर निस्संदेह एक स्तुत्य कार्य किया है। एक आदर्श प्रस्तुत किया है।

राय कृष्णदास जी के ऊपर एक पारिवारिक उत्तरदायित्व था जो उन्होंने पूरा किया। उनके पुत्र डॉ0 आनन्द कृष्ण भारतीय कला के प्रख्यात् विद्वान् हैं। राय कृष्णदास जी को घर से अधिक भारत कला भवन की चिंता थी। एक बार उन्होंने भारत कला भवन को और भी विकसित करने के लिए पं0 ——— नेहरू स भारत सरकार से बीस लाख मांग नेहरू न कहा इतन में ता मैं बीस

छात्रों को पढने के लिए विदेश भेज सकता हूँ।'' राय साहब बोले, 'मेरे लिए भारत कला भवन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।' नेहरू जी बोले 'ऐसा होना भी चाहिये।' और एक दिन वह भी आया जब सरकार जी ने भारत कला भवन की चाबी प0 जवाहरलाल नेहरू को सौंप दी। उसे राष्ट्र को अर्पित कर दिया। उनके जीवन का एक महान् उद्देश्य पूरा हो गया। अपने पिता और मामा के अन्तरग मित्र पं0 मोतीलाल जी नेहरू के अत्यधिक आग्रह पर भी वे राजनीति के क्षेत्र में नही उतरे परन्तु महामना प0 मदनमोहन मालवीय के सरस्वती उद्यान मे उन्होंने एक ऐसा कल्पवृक्ष लगा दिया जिसके लिए विश्व की कला-प्रेमी जनता उन्हें सदा स्मरण करेगी।

राय कृष्णदास जी हिन्दी को पूरी तरह से समर्पित साहित्यकार थे। गद्य काव्य की विधा सबसे पहले उन्होंने प्रारम्भ की। भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला पर पुस्तकें लिखकर उन्होंने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया। राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा पं0 श्रीनारायण चतुर्वेदी उनके सबसे निकट के मित्र थे। पं0 श्रीनारायण चतुर्वेदी ने वत्सल निधि की राय कृष्णदास व्याख्यान माला मे एक व्याख्यान पढ़ा था, 'कित उड़ि जैहे चातकी।' यह लेख बाद मे अज्ञेय जी द्वारा सम्पादित 'भारतीय कला दृष्टि'[1] में प्रकाशित हुआ? इस लेख मे चतुर्वेदी जी ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से लेकर राय कृष्णदास की बाल्यावस्था तक की हिन्दी की गति विधियों का सजीव चित्रण किया था। जिन दिनों श्रीनारायण जी उत्तर प्रदेश (तत्कालीन सयुक्त प्रदेश) में 'शिक्षा प्रसार अधिकारी' थे, उन दिनो उन्होंने आग्रह करके सरकार जी से 'भारतीय चित्रकला' और 'भारतीय मूर्तिकला' पुस्तकें लिखवाईं और हिन्दी स्कूलों के पाठ्यक्रम मे स्थान दिलाया। इससे पहले हिन्दी में कला विषयक केवल पुस्तक थी--'भारतीय चित्रकला' उसके लेखक श्री नानालाल चिमनलाल मेहता थे। यह पुस्तक सन् 1933 मे हिन्दुस्तानी अकेडमी, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई थी। बहुत दिनों तक मैं यह समझता रहा कि यह मेहता जी की किसी अग्रेजी पुस्तक का अनुवाद है परन्तु एक दिन विशाल भारत, कलकत्ता का जुलाई 1935 का अंक देखकर पता चला कि यह हिन्दी की प्रथम, कला विषयक मौलिक पुस्तक है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि राय कृष्णदास जी को इस विधा का अग्रगामी लेखक होने का श्रेय प्राप्त है। कला के इस उद्यान में बाद में डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल, डॉ0 मोतीचन्द्र, डॉ0 भगवत् शरण उपाध्याय, डॉ0 सतीशचन्द्र काला, प्रो0 कृष्णदत्त बाजपेयी, श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल तथा डॉ0 जगदीश गुप्त आदि विद्वान् लेखकों ने अपनी कृतियाँ लिखकर पल्लवित और पुष्पित किया।

राय साहब ने भारत कला भवन से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न

---

1 प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली

किया वह था कला निधि जैसी उच्च स्तरीय कला पत्रिका का प्रकाशन। दुर्भाग्य से इसके पाँच अंक ही निकल सके। इससे पहले 'गंगा' भागलपुर (बिहार) ने 1933 में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के सम्पादकत्व में अपना विशेषांक 'पुरातत्व अंक' निकाला था। सन् 1933 में ही पं० बनारसी दास चतुर्वेदी ने कलकत्ता से विशाल भारत का कला अंक निकाला। बाद में सम्मेलन पत्रिका ने भी कुछ वर्ष पूर्व अपना एक विशेषांक 'कला अंक' प्रकाशित किया। यह राय कृष्णदास जैसे मनीषियों के तप का ही फल है कि ललित कला अकादमी, नई दिल्ली से श्री सौमित्र मोहन के सम्पादकत्व में 'समकालीन कला (त्रैमासिक) का नियमित रूप से प्रकाशन हो रहा है। मध्य प्रदेश के आदिवासी लोक-कला और संस्कृति पर, भोपाल से 'चौमासा' नियमित प्रकाशित हो रहा है।

काशी मेरी सर्वाधिक प्रिय नगरी रही है। पचास साल पहले की एक हल्की सी स्मृति शेष है। सन् 1941 में मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ने गया था। तब नागरी प्रचारिणी सभा के किसी समारोह में श्रीयुत राय कृष्णदास के प्रथम बार दर्शन हुए थे। सभा के प्रांगण में कुछ प्राचीन प्रस्तर-मूर्तियाँ भी प्रदर्शित थी जो राय साहब द्वारा संग्रहीत थी।

बाद में सन् 1956 के आस पास अपने पूजनीय आचार्य श्री डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल की कृपा से मैं राय कृष्णदास जी से परिचित हुआ। वे राय कृष्णदास जी के सम्बन्धी भी थे। दोनों कला के एकनिष्ठ उपासक थे। शुरू में मुझे सरकार जी से मिलने में कुछ संकोच भी हुआ। सोचा कि वे एक धनी अभिजात्य वर्ग के पुरुष हैं। न जाने उनका रुख कैसा हो? लेकिन जैसे-जैसे मैं उन कला-ऋषि के सम्पर्क में आता गया, वैसे-वैसे सारा संकोच दूर होता गया। मुझे वे बड़े सरल, निरभिमान व्यक्ति लगे। मैं जब भी वाराणसी जाता काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उनके बंगले 'सीता-निवास' पर अवश्य जाता। सन् 1955 में मैंने उन्हें अपनी दो प्रारम्भिक पुस्तकें 'कला यात्री' और 'श्री' (भारतीय कला में लक्ष्मी) भेंट की। उस समय उन्होंने कहा कि इन पुस्तकों को श्री मैथिलीशरण गुप्त के पास भेजो। उनके आदेशानुसार मैंने पुस्तकें भेज दी। कुछ दिन पश्चात् गुप्त जी का पत्र पाकर मुझे सुखद आश्चर्य हुआ। उन्होंने मुझे प्रोत्साहित किया था। आज सोचता हूँ तो लगता है कि पिछली पीढ़ी बहुत महान् थी। नए लेखकों को भी वह कितना प्रोत्साहन, कितना मनोबल प्रदान करती थी? आज मैं थोड़ा बहुत जो भी लिख पाया हूँ, वह इन गुरुजनों के प्रोत्साहन का ही तो फल है।

सन् 1956 में मेरी पुस्तक 'नटराज' छप रही थी। उसके कुछ छपे हुए फर्मे भेजकर मैंने राय कृष्णदास जी से निवेदन किया कि मैं अपनी यह छोटी सी पुस्तक आपको समर्पित करना चाहता हूँ। कृपया स्वीकृति भेजने का कष्ट करें। उन्होंने मुझको अनुग्रहीत किया

सन् 1960 में मेरी पुस्तक कला के पद्म प्रकाशित होने जा रही थी यह

राजस्थान के सर छोटूराम स्मारक संग्रहालय का कैटलाग था जिसमे मेने कक्ष स सम्बन्धित विषयो पर लख भी दिए थे। हिन्दी में हस्तकला सम्बन्धी मौलिक लेख सबसे पहले इस ग्रन्थ मे ही छपे है। मेरी प्रार्थना पर उन्होने 'सग्रहालयो की उपयोगिता', पर एक लेख भेजने की कृपा की उनका यह लेख ग्रन्थ के प्रारम्भ मे छपा। मुझ जैसे सामान्य व्यक्ति के ऊपर उनकी जीवन भर कृपा रही।

सन् 1975 में मै दिल्ली में था। तभी तत्कालीन संसद सदस्य भाई श्री सुधाकर पाण्डेय के प्रयास से मुझे भारतीय इतिहास अनुसधान परिषद् की सीनियर रिसर्च फैलोशिप मिली। वस्तुत· वह फैलाशिप पीएच0 डी0 क बाद की पोस्ट डाक्टरल थी परन्तु आदरणीय पाण्डेय जी ने मेरे हिन्दी में किए गए कार्य क आधार पर मुझे यह अवसर प्रदान करने को कहा था। इस फैलोशिप के अन्तर्गत मुझे पुरातत्व और कला की ग्रन्थ तालिका तैयार करनी थी। मैंने एक पत्र द्वारा इसकी सूचना श्रद्धेय राय कृष्णदास जी के पास भेजी। उत्तर में मुझे उनका 28 अगस्त 1975 का लिखा हुआ पत्र मिला। उन्होने लिखा था--

प्रिय चतुर्वेदी जी,

आपका पत्र मिला। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप Bibliography of Indian Art, History and Archaeology तैयार करन जा रहे है। मेरे समझ मे यह कार्य बहुत आवश्यक है। ऐसा कुछ कार्य। American Indian Studies रामनगर वाराणसी के श्री आर0 पी0 हिंगारानी कर चुके हैं और उसे प्रकाशित भी करने वाले है। अच्छा हो कि आप उनसे सम्पर्क कर ले।

मै सरकार जी का आशय समझ गया। वे नही चाहते थे कि जो कार्य किया जा चुका है, उस पर फिर श्रम किया जाय या किसी के श्रम को व्यर्थ कर दिया जाय। हिगोरानी जी सन् 1952 से मेरे परिचित मित्र रहे हैं जबकि मैं नागपुर क सूचना तथा प्रकाशन विभाग में था और वे नागपुर विश्वविद्यालय के ग्रन्थालय मे। उनकी 'ग्रन्थ तालिका' केवल चित्रकला से सम्बन्धित है, इसकी सूचना मैंने सरकार जी को दे दी लेकिन मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि कला जगत् की छोटी से छोटी घटना की भी उनको जानकारी रहती है।

राय कृष्णदास जी का परिवार काशी के गिने-चुने प्रतिष्ठित परिवारो मे से था। कृष्णदास जी का जन्म सन् 1892 में राजा पटनीमल के भारत-विख्यात् परिवार में हुआ था। उनके पिता श्रीयुत प्रहलाद दास जी की गणना काशी के अत्यन्त प्रतिष्ठित रईसों में होती थी। उनका पैत्रिक निवास गगा के तट पर था जो बाद में गगा की बाढ़ में चला गया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र श्री प्रहलाद दास के फुफेरे भाई थे। भारतेन्दु जी का निधन तो कृष्णदास जी के जन्म से कुछ वर्ष पहले सन् 1885 में हो चुका था परन्तु काशी में भारतेन्दु जी के कारण जो एक अनूठा साहित्यक परिवेश बना था वह तब तक विद्यमान था। कृष्णदास जी की बाल्यावस्था के कुछ वर्ष अवश्य वाराणसी में बीते लेकिन 9 वर्ष की अल्पायु मे

उनका सन् 1901 मे इलाहाबाद आ जाना पड़ा। सम्पत्ति के किसी बड़े मुकदमे के सिलसिले में प्रहलाद दास जी का इलाहाबाद रहना आवश्यक हो गया था।

कृष्णदास जी की ननिहाल प्रयाग के दारागंज मुहल्ले में इलाहाबाद के प्रख्यात् रईस बीरूमल राजा राधारमण के यहाँ थी। पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी ने लिखा है कि जितनी सुन्दर कलापूर्ण पत्थर की नक्काशी इस परिवार की हवेली के द्वार पर है, वैसी मैंने उत्तर प्रदेश में अन्यत्र नहीं देखा। स्वयं सरकार जी ने अपनी ननिहाल के बारे मे लिखा है-

"प्रयाग मेरा ननिहाल है। राय अमरनाथ के कुल की ज्येष्ठ शाखा मेरे नाना और मामा हुए। नाना जी लाला गया प्रसाद अपने समय के प्रयाग के प्रसिद्ध सम्भ्रान्त व्यक्ति तो थे ही, शीलवान् भी उन सरीखा कोई और न होगा। कोट्याधीश होते हुए भी प्रयाग का एक-एक आदमी उनके द्वार का प्राणी था।

रायकृष्णदास जी के मामा लाला लक्ष्मी नारायण जी खुले हाथ और उदार हृदय के सत्य-निष्ठ व्यक्ति थे। पं० मोती लाल नेहरू उनके अभिन्न हृदय मित्र थे और दोनो के परिवारों के बीच में भी आत्मीय सम्बन्ध चल रहे थे। जवाहरलाल जी नेहरू अपनी बाल्यावस्था में लाला लक्ष्मी नारायण जी की गोद में खेले थे। लाला लक्ष्मी नारायण जी कला प्रेमी और सुरुचि सम्पन्न व्यक्ति थे। उनके सस्कारों का प्रभाव बालक कृष्णदास पर भी पड़ा।

केवल 9 वर्ष की आयु मे बालक कृष्णदास के मन में साहित्य के प्रति एक अनुराग का अंकुर उत्पन्न हो चला था। यह बात पढ़कर निश्चित ही एक आश्चर्य हो उठता है। परन्तु स्वय राय कृष्णदास जी ने सरस्वती की हीरक जयन्ती के अवसर पर भेजे गए अपने सन्देश में लिखा है--

"अपना पचास प्रतिशत ज्ञान मैंने सरस्वती से अर्जित किया है। 'सरस्वती' के दर्शन मुझे पहिली बार सन् 1901 के मार्च में हुए। उस समय मेरा नव वर्ष चल रहा था। तो भी उससे पहले मैं पुस्तक संग्रही और पुस्तक कीट था। भले ही समझ न पाऊँ रुपये में पाई भर। मैं अपने एक ज्येष्ठ बन्धु के यहाँ से 'सरस्वती" उठा लाया। मुश्किल से उसका तीन चौथाई समझ सकता था फिर उसका रग रूप ऐसा था कि हठात् मै सरस्वती मगाने लगा।

जब वे केवल 11 वर्ष के किशोर थे, तभी परिवार पर वज्रपात हुआ। लाला प्रहलाद दास जी का निधन हो गया। इस दुःखान्त घटना ने सारे परिवार को हिला दिया। उनके प्रभावशाली किन्तु सौम्य व्यक्तितत्व की भी स्मृति उनके एक फोटो मे सुरक्षित है, जिसे उन्हें ले जाकर पं० मोतीलाल नेहरू ने प्रयाग के

1 सरस्वती हीरक जयती अंक 1961 पृष्ठ 46

अग्रज फाटोग्राफर मि डब मे खिचवाया था इसमे अपने पिता लाला प्रहलाद दास जी और पं0 मोतीलाल नहरू के बीच मे बन्द गले का कोट पहने और कलाबत्तू की गोल टोपी लगाए किशोरवय कृष्णदास, खड़े है।[1]

राय कृष्णदास जी का सारा ज्ञान स्वअर्जित था। बचपन मे स्वास्थ्य ठीक न रहने क कारण उन्हें पढने के लिए स्कूल नही भेजा गया। उनकी हिन्दी और अग्रजी की शिक्षा घर पर ही हुई। राय साहब को जीवन भर पाण्डुलिपियाँ और कला ग्रन्थों के संग्रह का शौक रहा। एक बार मुझे फिलाडेलफिया से प्रकाशित कला-पत्रिका 'ईस्टर्न आर्ट' की आवश्यकता हुई। उसमे डॉ0 कुमारस्वामी के दो लेख श्री लक्ष्मी और 'इन्द्र' प्रकाशित हुए हैं। कई नगरों मे खोजने पर भी मुझे 'ईस्टर्न आर्ट' के वे अंक नही मिले; मिले तो भारत कला भवन के पुस्तकालय मे।

राय कृष्णदास जी नौ वर्ष की आयु से चौबीस वर्ष की आयु तक इलाहाबाद मे ही रहे। प्रयाग मे रहकर वे उसके मुहल्लो से भलीभाँति परिचित हो गए। उनके मन मे कला के प्रति अनुराग कैसे उत्पन्न हुआ इसके सम्बन्ध मे स्वय उन्होंने लिखा है--"अल्फ्रेड पार्क मे मेरा आकर्षण थी 'थार्नहिल लायब्रेरी' उसमे बैठकर मे कितनी बार अजंता चित्रावली मे सराबोर हुआ हूँ। यहाँ तक कि उसकी रेखा-रगों वाली भाषा, मेरे रोम-रोम मे भीग गई और मेरा आपा तद्रूप हो गया। उन दिनो उस लायब्रेरी मे एक छोटा सा मूर्ति-सग्रह भी था। मैं उसे रोज रोज देखकर भी न अघाता। अपनी मूर्ति कला का ठोसपन और भाग-भंगिमा तभी से मुझमे घर कर गई।"

जिस अजंता चित्रावली का जिक्र राय कृष्णदास जी ने किया है। वह ग्रिफिथ साहब की अजंता थी। उसकी विशेषता यह है कि पिछले सौ वर्ष मे अजंता में जो चित्र मिट गए हैं अथवा धूमिल हो गए हैं, वे भी इस चित्रावली में है। दो खण्डो की यह चित्रावली बम्बई स्कूल आफ आर्ट के प्रिंसिपल मिस्टर ग्रिफिथ ने तैयार कराई थी। इस चित्रावली की चर्चा आने पर एक घटना याद आती है--

सन् 1959 में पं0 जवाहरलाल नेहरू सूरतगढ़ का रूसी फार्म देखने गए। उनके साथ श्रीमती इन्दिरा गाँधी, श्रीमन्नारायण तथा अजित प्रसाद जैन थे। उन दिनों मैं संगरिया के ग्रामोत्थान विद्यापीठ के म्यूजियम में क्यूरेटर था। संस्था के भारतीय स्वामी केशवानन्द, एम0 पी0 के आग्रह पर नेहरू जी ने विद्यापीठ को कुछ समय देना स्वीकार कर दिया। संग्रहालय देख चुकने के बाद वे पुस्तकालय मे गए। वहाँ हम लोगों ने चित्रयुक्त पाण्डुलिपियाँ और दुर्लभ ग्रन्थो का प्रदर्शन किया था। दुर्लभ ग्रन्थों मे सर जॉन मार्शल के विशाल ग्रन्थ 'मौनूमैन्ट्स ऑफ साँची' के तीनों खण्ड तथा लेडी हेरिंघम की अजंता भी थी। जिसे श्री नन्दलाल वसु और श्री असित कुमार हालदार ने अजंता की प्रतिकृतियों से सजाया है। लेडी

---

1 जवाहर भाई लेखक रायकृष्णदास

हेरिंघम की अजंता देखकर नेहरू जी ने मुझसे पूछा, "ग्रिफिथ की अजंता देखी है?" मैंने कहा, नहीं, "केवल नाम ही सुना है।"

वे बड़े गर्व के साथ बोले, "हमारे यहाँ है।"

मैंने पूछा, "दिल्ली में?" वे कुछ झुंझला कर बोले, "नहीं जी नहीं, इलाहाबाद में।" कई साल बाद जब मैं इलाहाबाद गया तो मैंने प्रयाग संग्रहालय के अध्यक्ष डॉ0 सतीश चन्द्र काला से अजंता चित्रावली के बारे में जानकारी ली। वे बोले, है तो यहीं पास में, इसी अल्फ्रेड पार्क की पब्लिक लाइब्रेरी में पर उसके सेक्रेटरी प्रो0 देव किसी को दिखाते नहीं हैं। उन्होंने प्रो0 देव को फोन किया। सौभाग्य से वे उसे दिखलाने को तैयार हो गए लेकिन दूसरे दिन जब मैं वहाँ गया तो उसकी दशा देखकर पन्ना खोलकर देखने की हिम्मत न पड़ी। पुराना होने के कारण चूरा गिरा। मैंने डॉ0 देव को धन्यवाद देकर उसे वहीं अलमारी में रख दिया। अब तो उसका रिप्रिंट साढ़े तीन हजार का निकल भी गया है।

यह थी, वह ग्रिफिथ साहब की अजंता! जिसने राय कृष्णदास जी के मन में कला के संस्कार जाग्रत किए थे। सम्भव है कि राय कृष्णदास जी ने उसकी चर्चा पं0 जवाहरलाल नेहरू से की हो या स्वयं पंडित जी ने उसे जाकर देखा हो।

राय कृष्णदास जी ने कविता और कथा साहित्य की बहुत सी पुस्तकों की रचना की। उनकी प्रथम पुस्तक 'ब्रजरज' ब्रजभाषा में है। लेकिन दूसरी कविता पुस्तक 'भावुक' में उन्होंने खड़ी बोली का प्रयोग किया है। उनकी इन कविताओं का प्रकाशन 'इन्दु' 'सरस्वती', 'प्रतिभा' और 'माधुरी' में सन् 1912 से सन् 1927 तक हुआ है। राय कृष्णदास जी वैष्णव थे और इन कविताओं में भी आध्यात्मिक पक्ष उजागर हुआ है--'संलाप' कथोपकथन शैली में लिखी है। इस पुस्तक में 'समीर और सुमन', 'हीरा और कोयला', 'सागर और मेघ' तथा 'उर्वशी और अर्जुन' ये संवाद हैं। दोनों पक्ष अपने-अपने तर्क प्रस्तुत करते हुए अपने दृष्टिकोण का औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं।

उनकी पुस्तक 'साधना' हिन्दी का प्रथम गद्य-काव्य संकलन माना जाता है। उसकी भाषा और विचारों की प्रौढता मन पर एक गहरा प्रभाव डालती है। राय कृष्णदास जी गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उनकी 'गीतांजलि' से बहुत प्रभावित रहे हैं। रवि बाबू भारत कला भवन के अध्यक्ष भी थे। 'गीतांजलि' की भाँति 'साधना' भी परम प्रभु के चरणों में अर्पित एक नैवेद्य है। राय कृष्णदास जी की सन् 1922 में लिखी पुस्तक 'छाया पथ' भी गद्य-गीतों का संकलन है। इसमें भक्ति-भावना और अध्यात्म का स्वर प्रकट होता है उनकी 'अनाख्या' और 'सुधांशु' आख्यायिकाओं के संग्रह हैं इन कहानियों में भी एक कला-विद् का मानस बिम्बित हुआ है। उनका भाव-पक्ष अत्यन्त सफल है। वे हृदय-स्पर्शी हैं।

रायकृष्णदास की रचनाओं में एक ऐसी मानवीय संवेदना मुखरित हुई है जो गंगाजल की तरह मन को धोकर उसे पवित्र करती है--एक उदाहरण--

एक बार शैतान प्रभु के पास आया। उसने उन्हे बहुत से प्रलोभन दिए किन्तु जब वे उनमें विचलित न हुए तो शैतान बोला :--

"मैं तुम्हें नरक में डाल सकता हूँ।"

"हाँ, हाँ, अवश्य।" प्रभु का मुख आनन्द से दमक रहा था।

शैतान ने उनके आगे नरक प्रदर्शित किया किन्तु उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि नरकाग्नि की प्रत्येक उत्कट शिखा में पापियो के त्राण और रक्षण के लिए भगवान् स्वयं जलते हुए उन्हे निर्मल कर रहे है।

शैतान भाग गया। (छाया पथ)

रायकृष्णदास जी ने पश्चिमी एशिया, लेबनान के मानवतावादी कवि, लेखक और चिंतक खलील जिब्रान की प्रख्यात् कृति 'दि मैड मैन' का अनुवाद 'पगला' शीर्षक से किया है। जिब्रान मेरे प्रिय लेखक है। उनके विचारो से प्रभावित होने के कारण ही मैंने उनकी दो कृतियाँ, 'दि प्रोफेट' और 'दि गार्डन ऑफ प्रोफेट' का 'मनीषी' शीर्षक से अनुवाद किया है। मैं अपने अनुभव के आधार पर यह कह सकता हूँ कि जिब्रान की भाषा कठिन नही है किन्तु उनका भाव-गाम्भीर्य गहरे सागर जैसा है। और उनकी कृति का अनुवाद 'परकाय प्रवेश' जैसा है। राय कृष्णदास जी स्वयं एक भावनाशील कवि थे इसलिए वे जिब्रान की इस कृति का इतना उत्कृष्ट और मर्मस्पर्शी अनुवाद कर सके, जो कि मूल जैसा लगता है।

किसी समीक्षक ने किसी पुस्तक के लिए कहा है--"जो इसे छूता है, वह एक मनुष्य को छूता है।" राय कृष्णदास जी की 'जवाहर भाई' एसी ही अद्भुत् कृति है। मैं इस पुस्तक की खोज मे था पर कहीं मिल न रही थी। वाराणसी मे डॉ0 आनन्द कृष्ण जी ने यह पुस्तक भेंट कर मुझे जितना उपकृत किया, उसे मे शब्दो मे व्यक्त नहीं कर सकता। यह प0 जवाहरलाल नेहरू के अंतरंग संस्मरण ही नही है बल्कि इससे पूरे नेहरू-परिवार पर जो प्रकाश पड़ता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

रायकृष्णदास जी की दो कला-विषयक पुस्तको 'भारतीय चित्र कला' और 'भारतीय मूर्तिकला' का उल्लेख पिछले पृष्ठों मे किया गया है। कला के अध्येताओं और जन सामान्य के लिए वे आज भी उतना ही उपयोगी और महत्वपूर्ण है जितनी की अब से साठ वर्ष पहले थी। उनमे प्राक् ऐतिहासिक काल से बंगाल चित्र-शैली तक का पूर्ण इतिहास दिया गया है। राय कृष्णदास जी का चित्रकारों और शिल्पियों से नित्य सत्पर्क था। मुगल शैली के चित्रकार उस्ताद रामप्रसाद जी को सरकार जी बहुत आदर की दृष्टि से देखते थे। उस्ताद रामप्रसाद के पूर्व पुरुष लिखी नामक चित्रकार थे। सूक्ष्म चित्राकन उनकी अपनी विशेषता थी। उसमें स्थानीय परम्परा और मुगल चित्रशैली का सगम हुआ था। उस्ताद राम प्रसाद, और उनके पुत्र उस्ताद शारदा प्रसाद भारत-कला भवन से सम्बद्ध रहे।

उमर खयाम की चित्रावली, उस्ताद रामप्रसाद जी की उल्लेखनीय कृति है। राय कृष्णदास कलाकारों का बहुत सम्मान करते थे और आवश्यकता पड़ने पर उनकी सहायता भी करते थे। सरकार जी ऐसे शब्दों से भलीभाँति परिचित थे, जिनका शिल्पी अपने प्रयोग में लाते थे, जैसे 'गाला-गल्ला'। सरकार जी ने प्रारम्भ में इस प्रकार के शब्दों की सूची देकर अपनी 'भारतीय चित्रकला' और 'भारतीय मूर्तिकला' में उनका उपयोग किया है। वे चाहते थे कि शिल्प का यह शब्द-भंडार व्यवहार न होने से कहीं लुप्त न हो जाय।

उस्ताद राम प्रसाद जी के निधन के कुछ वर्ष पश्चात् उनके पुत्र उस्ताद शारदा प्रसाद चित्रकार के रूप में भारत कला भवन में नियुक्त हुए। उन्होंने 'हम्जानामा' के प्रतिकृतियों के अतिरिक्त 'सोहिनी महिवाल' 'शाहजहाँ' और 'मुगल सुन्दरी' की पूर्वाह बनाई।[1] सूक्ष्म रेखांकन उनके चित्रों में मुगल कला के सदृश्य है।

काशी मे आवास करने वाले मूलरूप से नेपाल के चित्रकार श्री कर्णमान सिंह भी भारत कला भवन से सम्बद्ध हुए। 23 सितम्बर 1979 में महाराजाधिराज वीरेन्द्र वीर विक्रम शाह ने भारत कला भवन में वहाँ की प्राचीन और नवीन कला कृतियों की प्रदर्शनी का उद्‌घाटन किया था। इस प्रदर्शनी मे श्री कर्णमान सिंह की भी दो कला कृतियों (चित्रो) का समावेश हुआ था -मन्दिर और पुरुषों के साथ बालिकाएँ। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे इन वरिष्ठ कलाकार की तूलिका का प्रसार अपनी प्रस्तुत 'भरहुत की शिल्प-कलाएँ' के आवरण और रेखा चित्रों के रूप में सन् 1950 मे प्राप्त हुआ था।[2]

तात्पर्य यह कि राय कृष्णदास जी कला वस्तुओं के ही नही कलाकरो के भी पारखी थे। वे प्रतिभा को पहचानते थे और उसे निरन्तर प्रोत्साहन देते थे।

राय कृष्णदास जी की एक अन्य पुस्तक 'प्रवाल' भी भारती-भण्डार इलाहाबाद से छपी थी किन्तु खेद है कि अप्राप्य होने के कारण वह मुझे उपलब्ध नहीं हो सकी। भारती-भण्डार उनका अपना प्रकाशन गृह था, जहाँ से 'भारतीय मूर्तिकला' को छोड़कर (जो नागरी प्रचारिणी काशी से प्रकाशित हुई) अन्य कृतियाँ प्रकाशित हुई। बाबू जयशंकर प्रसाद जी से राय साहब के अन्तरग सम्बन्ध थे। उन्होंने अपने नाटक की भूमिका भी राय साहब से लिखवाई थी। पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के लेख 'कित उड़ि जेहै चातकी' में राय साहब के 'प्रसाद जी' के सस्मरणो का उल्लेख है। बहुत खोज करने पर मुझे यह भी पता न चल सका कि वे कहाँ प्रकाशित हुए। काशी के कई महानुभावों को पत्र लिखे किन्तु वे सब अनुत्तरित रहे।

---

1 सस्कृति सगम, इलाहाबाद, प्रवेशांक, पूर्वाद्ध 1987, सुश्री इन्दुप्रभा त्रिवेदी का लेख 'मुगल कला परम्परा के अंतिम प्रहरी, पृष्ठ 40, चित्र 1 सुन्दरी (शबीह)

2 हिन्दी वाराणसी से प्रकाशित 1956

सरकार जी के संस्मरण बड़े हृदय-स्पर्शी है। उनके दो संस्मरण मैंने देखे, एक श्रीमती महादेवी वर्मा का 'यह संगम त्रिवेणी है।' और डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का, 'वह एक साथ कई ग्रन्थ बोलकर लिखाते।' श्रीमती महादेवी वर्मा हिन्दी साहित्य के लिए माँ भारती का एक वरदान थी। जिस प्रकार प्रयाग मे संगम मे गंगा, यमुना और लुप्त सरस्वती का मिलन हुआ है, उसी प्रकार महादेवी जी मे कविता, गद्य और चित्रकला का अद्‌भुत संगम हुआ था। उनमे से कौन सी विधा श्रेष्ठतम है यह कोई नही कह सकता। गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अतिरिक्त इन तीनो विधाओं का संगम कहीं दिखलाई नहीं देता। 'यह संगम त्रिवेणी है' मे राय साहब ने लिखा है--

"कवियो में रवीन्द्र ही ऐसे हुए जिन्होंने चित्रकारी के भी सफल प्रयोग किए। किन्तु उनकी चित्रकारी की दशा बिलकुल भिन्न थी। उनकी कविता से उसका कोई सम्बन्ध न था। जब वे साठ बरस के ऊपर चल रहे थे, उन्होंने तूलिका ग्रहण की और तब उन्होने जो अंकन किए, वे सुप्रसिद्ध कलालोचक श्री अर्धेन्दु कुमार गांगुली के शब्दों में, उस बालक के अंकन थे जो कवि-गुरु के अन्तर्मन मे सो रहा था और अपर षष्ठी के बाद जाग उठा था।

"इसके विपरीत, महादेवी जी का अंकन उनकी कविता का अंग है। उनके अंकनों मे हमे उनके अमूर्त भावों का दर्शन मिलता है। दूसरे शब्दों में इनकी बिम्ब ग्राहिता अमूर्त भावों का किन मूर्त रूपो मे देखती है, यह उनके चित्रो द्वारा प्रत्यक्ष हो जाता है और इस प्रकार शब्दों और रंग रेखाओं में सामजस्य स्थापित होता है एवं कवियित्री के मनोजगत् के अव्यक्त की व्यक्त झांकी हमें प्राप्त होती है। इस दृष्टि से ये चित्र अपना सानी नहीं रखते। चित्र कला और कविता का ऐसा अनोखा संगम गंगा--यमुना के संगम वाले तीर्थराज के अनुरूप ही है।"

इन संस्मरणो के अतिरिक्त सरकार जी ने अपने सुयोग्य पुत्र डॉ० राय आनन्द कृष्ण के साथ भारतीय कला पर किशोरों अथवा जन सामान्य के लिए दो छोटी-छोटी पुस्तके सरल और सुबोध भाषा में लिखी "अजंता के चित्रकूट" और 'मध्य कालीन चित्र शैलियाँ'। प्रवाहमयी भाषा की इन पुस्तको को वैसी ही प्रवाह मयी रेखाओ द्वारा अलंकृत भी किया गया है।

राय साहब मुग़ल चित्रकला के विशेषज्ञ माने जाते थे। ललित कला अकादमी नई दिल्ली ने सन् 1965 में 'मुग़ल मिनिएचर' नामक पुस्तक का प्रकाशन किया है, जिसकी भूमिका तत्कालीन शिक्षा मंत्री प्रो० हुमायुन् कबिर ने लिखी है। पुस्तक मे अकबर कालीन हम्जानामा से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक के मुगल कलम के 10 रंगीन चित्र है। राय साहब ने मुगल कला उद्‌भव, विकास, विशिष्टताओं तथा लाक्षणिकताओं का थोड़े से पृष्ठों में ही जो विश्लेषण किया है, वह भारतीय कला के अध्येताओं के लिए अति महत्वपूर्ण और मूल्यवान् है।

राय श्री कृष्णदास ने डॉ० आनन्द के० कुमारस्वामी अथवा डॉ० वासुदेवशरण

अग्रवाल की भाँति अधिक ग्रन्थ अथवा लेख नहीं लिखे परन्तु उनके कुछ लेख स्थायी महत्त्व के हैं, जैसे 'अकबर कालीन चित्र और उसके चित्रकार' (कलानिधि वाराणसी), 'पुराणों का चातुर्द्वीपिक भूगोल और आर्यों की आदि भूमि' (सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ वाराणसी), 'पिंक एनामलिंग ऑफ बनारस' (गुलाबी मीनाकारी' छवि, भारत कला) 'एन अलस्ट्रेटेड मैनुस्क्रिप्ट ऑफ लोरिक चन्दा, इन दी भारत कला भवन' (ललित कला, नई दिल्ली) और 'ए कामभदन इटरन टेराकोटा प्लेक फ्रॉम कौशाम्बी' (जनरल ऑफ यू0 पी0 हिस्टॉरिकल सोसाइटी लखनऊ)।

म्यूज़ियम एसोसियशन ऑफ इण्डिया के वार्षिक सभा में 30 दिसम्बर 1963 को उन्होंने अध्यक्षीय भाषण दिया अपने इस लम्बे व्याख्यान में उन्होंने सग्रहालयों की उपयोगिता, स्वाधीन भारत में उनका योगदान और उनकी समस्याओं आदि पर विचार व्यक्त किए।

संस्थाएँ अपने संस्थापक महापुरुषों की दीर्घ-छायाएँ होती हैं। न काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को महामना पं0 मदन मोहन मालवीय से अलग करके देखा जा सकता है और न भारत कला भवन को कला ऋषि राय कृष्णदास जी से अलग करके। वह तो मानो उनके व्यक्तित्व का एक अंग बन गया था। आज भारत कला भवन अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का भव्य संग्रहालय है। इसमें लगभग एक लाख कला कृतियाँ हैं, जिनमें प्रस्तर प्रतिमाओं, मृण्मय मूर्तियों, नटराज आदि की कांस्य मूर्तियों, हाथीदांत की शिल्प कृतियों, मुगल तथा राजस्थानी चित्र, आधुनिक कला गुरुओं के श्रेष्ठ, भावपूर्ण चित्रों आदि का समावेश है।

भारत कला भवन में कुछ ऐसी कला कृतियाँ और अभिलेख हैं; जिनसे धार्मिक सहिष्णुता और पारस्परिक सौहार्द पर प्रकाश पड़ता है। इनमें शाहन्शाह अकबर के शासन-काल में जारी किया गया एक सिक्का भी है, जिसमें राम और सीता की आकृतियों को उभारा गया है और उस पर 'रामसीय' लिखा गया है। बादशाह औरंगजेब इस्लाम मे मूर्तिपूजा की अस्वीकृति के कारण मूर्ति पूजा का विरोधी था और उसने कई हिन्दू मन्दिरों को नष्ट भी कराया था किन्तु भारत कला भवन में उसका एक फरमान (आदेश) संग्रहीत है। जिसमें हिन्दू मन्दिरों को ध्वंस न करने का आदेश दिया गया है। सम्भव है कि बाद में उसके विचारों मे यह परिवर्तन आया हो। मुग़ल चित्र बीथिका मे उत्तर मुग़ल काल का एक ऐसा चित्र भी है जिसमें मुग़ल शासक अमीर अली अपने हिन्दू सामन्तों और मुस्लिम अमीर-उमरावों के साथ होली खेलते हुए दिखलाए गए हैं।

भारत कला-भवन का मूर्तिकला कक्ष अत्यन्त समृद्ध है। देव सेनापति कार्तिकेय की गुप्तकालीन मूर्ति तो बेजोड़ है। काशी के गौरव डॉ0 भगवानदास के सुयोग्य पुत्र श्रीप्रकाश जी ने राय साहब को चोल और पल्लव काल की दो

---

1. जनरल ऑफ इण्डियन म्यूज़ियम, नई दिल्ली, वो0 10, 1964, पृष्ठ 75-79

मूल्यवान नटराज प्रतिमाए भट का ह जा इस सग्रहालय म सग्रहात ह राजघाट की खुदाई से प्राप्त मृण्मय मूर्तिया, जिनमे विविध प्रकार की केश सज्जा परिलक्षित हाती हे, गुप्तकालीन कला के उत्कृष्ट नमूने है।

इस सग्रहालय में अकबर कालीन चित्रों से लेकर उत्तर मुगल काल तक के चित्र हैं। गुलिस्तॉं की एक दुर्लभ प्रति पर शाहन्शाह शाहजहॉं का हस्तलेख है और कुरान-शरीफ की वह प्रति भी जिसे अतिम मुगल बादशाह बहादुर शाह जफर पढ़ा करते थे। राजपूत चित्रकला की विभिन्न शैलियों में चित्रो से लेकर आधुनिक कला-गुरुओं; श्री अवीन्द्रनाथ ठाकुर, चित्राचार्य श्री नन्दलाल वसु तथा श्री देव कृष्ण जोशी आदि के चित्र संग्रहीत हैं।

संग्रहालय में सस्कृत, फारसी तथा हिन्दी की चित्र-लिखित पोथियाँ उसकी अनमोल थाती हैं। राय कृष्णदास जी को साहित्यकारो की मूल पाण्डुलिपियाँ एकत्रित करने का शौक बचपन से ही रहा था। इसके भारतेन्दु कक्ष में जयशंकर प्रसाद तथा अन्य लब्ध साहित्यकारो की अनेक पाण्डुलिपियों का संग्रह है।

शोधकर्त्ताओ के लिए भारत कला-भवन एक वरदान है। मुद्राशास्त्र के अध्येता को यहाँ प्राचीन से लेकर अद्यतन काल के 25 राजवंशो के 20, 000 से भी अधिक सिक्के अध्ययन और शोध के लिए उपलब्ध हैं। भारत कला-भवन ने काशी कक्ष का शुभारम्भ भी कर दिया है। जिसमे काशी की परम्परागत विविध कलाओं का, जैसे जरी के वस्त्र, पीतल तथा चॉंदी की कलात्मक वस्तुओ, काष्ठकला आदि का समावेश होगा।

श्री सी० शिवराममूर्ति

श्री सी० शिवराममूर्ति

मेरे मित्र श्री राजेन्द्र कुमार मिश्रा ने अपने निजी संकलन में से देश के वरिष्ठ कला-इतिहासकार, 'विचित्र चित्र', पद्मश्री कलनूर शिवराममूर्ति का मूल्यवान् तथा अब दुर्लभ ग्रन्थ 'दि आर्ट ऑफ इण्डिया' देने की कृपा की है। भारीभरकम, लगभग दो सौ बहुरंगे तथा अनेक इकरंगे चित्रों से सज्जित यह ग्रन्थ न्यूयार्क के प्रख्यात् प्रकाशक हैरी एन० एम्ब्रेस का प्रतिष्ठा-प्रकाशन है। ग्रन्थ के अन्त में विद्वान लेखक ने 'क्रानोलॉजी' (काल-निर्णय), 'बिब्लोग्राफी' (संदर्भ-ग्रन्थ सूची) तथा 'इंडेक्स' 'अनुक्रमणिका' भी दी है, जिससे पुस्तक की उपादेयता और भी बढ़ गई है। इन दिनों मैं इस विशाल ग्रन्थ को ही देख रहा हूँ।

मैंने श्रीयुत विन्सेन्ट स्मिथ का भारतीय तथा सिंहली कला का इतिहास (हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन) को पढ़ा है और श्री बैंजामिन रॉलैण्ड का 'दि आर्ट एण्ड आर्चीटेक्चर ऑफ इण्डिया बुद्धिस्ट, हिन्दू और जैन' (पैलिकन आर्ट सीरीज़) भी। मुझे डॉ० आनन्द के० कुमारस्वामी के उस प्रख्यात् कला-इतिहास 'दि हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट' को देखने का सौभाग्य भी मिला है, जिसमें विद्वान इतिहासकार ने सीमित पृष्ठों में गागर में सागर भरा है, लेकिन श्रीयुत शिवराममूर्ति के इस अद्भुत ग्रन्थ ने मुझे चमत्कृत कर दिया है। उसने ऑखों के आगे एक सर्वथा नई सृष्टि लाकर खड़ी कर दी है, पटना के दीघाघाट की गंगा जैसा विस्तार और एक विलक्षण अनुभूति की। हम सचमुच उस कला-तीर्थ के द्वार पर आकर खड़े हो गए हैं, जिसकी विद्वान् लेखक इतिहास की पृष्ठभूमि के साथ कला-विवेचन और व्याख्या प्रस्तुत कर रहा है। यह ग्रन्थ डॉ० शिवराममूर्ति की जीवन-व्यापी साधना का अमृत-फल है। वे इस देश की जमीन से, जुड़े थे और उस मातृ-भूमि का सौंधापन ही उनके लेखन में भर गया था।

शिवराममूर्ति साहब ने यदि इस ग्रन्थ के अतिरिक्त और कुछ भी न लिखा होता तो भी उन्होंने एक कला-इतिहासकार की कीर्ति अर्जित कर ली होती। लेकिन कितना कुछ लिखा है, उन्होंने? भारतीय मूर्तिकला, चित्रकला, कांस्य-प्रतिमाएँ, प्रतीक-विद्या, मुद्राशास्त्र, पुरातत्व और शिला-लेख विद्या, भला कौन सा क्षेत्र ऐसा है, जो उनकी लेखनी का प्रसाद पाने से छूटा हो? वे सच्चे अर्थों में वाग्देवी सरस्वती के अमृत-पुत्र थे।

शिवराममूर्ति साहब की बात सोचता हूँ तो मानस चक्षुओं के आगे उनकी मूर्ति ही आकर खड़ी हो जाती है, हल्का साँवला रंग लेकिन उसमें एक छवि, चौड़ा माथा बड़ी-बड़ी आँखें, चन्दन चर्चित भाल और बीच में लाल रोली का

टीका। उनके होठों पर सदा खेलती बच्चों जैसी सरल, मुस्कान। भला कौन भूल पायेगा उसे। महापुरुष सरल निश्छल होते ही हैं अन्यथा उनके हृदय पटल पर विधाता इतने रंग कैसे बिखेरता? पहली बार मिलने पर ऐसा लगता है कि इनके साथ तो हमारा वर्षों पुराना परिचय है। सहृदयता के इतने बड़े अधिकारी ज्ञात हुए इतने सहज विश्वासी? आश्चर्य होता था।

आज मुझे यह स्वीकार करते हुए लज्जा आ रही है कि 'दि आर्ट ऑफ इण्डिया' के प्रणेता ने दक्षिण-भारत के जिन कला मण्डपों के शब्दचित्र प्रस्तुत किए है, उनमें से अनेक के तो मैं नाम से भी परिचित नहीं हूँ। फिर मैं इतने दिनों तक करता क्या रहा? जिन विदेशी कला-इतिहासकारों के ग्रन्थ मैं पढ़ता रहा वे स्वयं भी उन कला-तीर्थों के सम्बन्ध में अधिक न जानते थे। भारत इतना विशाल देश है कि समग्र भारत के कला-मण्डपों के दर्शन करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। फिर हम दक्षिण-भारत की भाषाओं को समझते भी तो नहीं। श्री शिवराममूर्ति दक्षिण की भाषाओं में से कुछ को जानते थे और वहाँ के कला-तीर्थों को तो वे निकट से पहचानते थे जो तमिलनाडु, आँध्र और कर्नाटक प्रदेशों में ऐसे भरे हुए हैं, जैसे कटहल में कोए। संस्कृत की शिक्षा दीक्षा उन्हें वंश-परम्परा में मिली थी और अंग्रेजी पर उनका मातृभाषा जैसा अधिकार था।

यह सच है कि इतिहास के किसी स्मारक अथवा वास्तु-कृति को देखने से पहले उसके इतिहास का ज्ञान होना अत्यावश्यक है किन्तु इतिहास का ज्ञान तथा वास्तु-कृति का वर्णन ही अध्येता को अधिक दूर तक नहीं ले जाता। उसके लिए उसे उस स्मारक का ध्यान से देखना और उसकी छवि को हृदयंगम करना अनिवार्य है। मनन, चिंतन और लेखन तो बाद की क्रिया-प्रक्रियाएँ हैं। शिवराममूर्ति जी के इस ग्रन्थ ने मुझे दक्षिण भारत के अनेक, भव्य कला-तीर्थों से परिचित ही नहीं कराया, अपितु मन में उनको निकट से देखने की एक प्यास भर दी।

श्रीयुत शिवराममूर्ति का क्षेत्र मुख्य-रूप से मूर्ति-विज्ञान था। हिन्दू देव-प्रतिमा को तो वे देखते ही उसकी शैली व लक्षणों के आधार पर बतला देते थे कि यह किस आराध्य की किस कला की प्रतिमा है। जैसा कि उनके ग्रन्थों से प्रकट होता है, उन्होंने शिल्प-शास्त्र के ग्रन्थों, विष्णु-धर्मोत्तरम् वराहमिहिर की वृहत् संहिता, अपराजित पृच्छा, शिल्प-रत्न, रूपमण्डन और समरांगण-सूत्रधार आदि का मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया था। इसी प्रकार वे अंशुभेदागम, सुप्रभेदागम आदि आगम ग्रन्थों से पूर्ण-रूपेण परिचित थे। मूर्ति-विज्ञान कला के अध्येता तथा इतिहासकार दोनों के लिए अत्यावश्यक विषय है। मादाम ग्रेस मोर्ले (राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली की प्रथम अध्यक्षा) की दृष्टि में-

'उन लोगों के लिए, जो पुरातत्व और ललित-कला से जुड़े हुए हैं मूर्ति-विज्ञान एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं अपरिहार्य विद्या है। यह उन विद्याओं की व्याख्या तथा उन्हें स्पष्ट करने वाली कुन्जी है जिससे मूर्ति अथवा चित्र के

रचना-काल तथा शैली का पता चलता है। इतना ही नहीं, कभी-कभी उस कला-कृति के उत्पत्ति-स्थान के बारे में भी पता लगाया जा सकता है।'

शिवराममूर्ति जी ने जहाँ उत्तर-भारत के मौर्य, शुंग, कुषाण, गुप्त और परवर्ती राजवंशो के इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया था, वहीं उन्होंने दक्षिण भारत के राजवंशों, चालुक्य, पल्लव, राष्ट्रकूट, पाण्ड्य और चोल आदि के इतिहास का भी अनुशीलन किया था। फिर भी वे किसी राजवंश या नरेश की सामरिक विजयो की अपेक्षा उसके समय की सांस्कृतिक देन को अधिक महत्व देते थे। इस सम्बन्ध में उनका विचार था--

''इतिहास के पृष्ठ उन राजाओं के वर्णनों से भरे हुए हैं, जिन्होंने नई विजयो द्वारा अपने राज्य का विस्तार किया, अपना प्रभुत्व स्थापित किया, 'सम्राट्' की उपाधि धारण की और ऐसे महान् यज्ञो का अनुष्ठान किया, जो केवल चक्रवर्ती सम्राटों के लिए ही सम्भव थे। इस भूमि पर उन्होंने अपने शौर्य के चिन्ह छोड़े। परन्तु इस सब के होते हुए भी उनकी विजयों के यह चिन्ह अपना कोई अमिट प्रभाव नहीं छोड़ सके। उनकी केवल वही देने शेष रहीं जो उन्होने कला और संस्कृति के क्षेत्र में दी थीं।''[1]

श्रीयुत सी0 शिवराममूर्ति के प्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे सन् 1958 मे दिल्ली में प्राप्त हुआ। वाडुँग सम्मेलन के पश्चात समूचे एशिया मे 'पंचशील' के पवित्र सन्देश को दुहराया गया और पं0 जवाहरलाल नेहरू के प्रयास और प्रेरणा से सारे देश में भगवान गौतम बुद्ध का 2500 वाँ महापरिनिर्वाण मनाया गया था। भारत सरकार तथा प्रादेशिक सरकारो द्वारा इस अवसर पर कई ग्रन्थो का प्रकाशन किया गया और कई कला-प्रदर्शनियाँ आयोजित की गईं। 'दि वे ऑफ बुद्ध' (सचित्र, बुद्ध जीवन की कथा), कश्मीर एवं आजकल नई दिल्ली के बुद्ध-जयंती विशेषांक निकले। डॉ0 नलिनाक्ष दत्त तथा प्रो0 कृष्णदत्त बाजपेयी का 'उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का इतिहास' उत्तर प्रदेश सरकार ने प्रकाशित किया ओर मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद् ने मेरी पुस्तक 'कला के प्राण बुद्ध' प्रकाशित की।

बुद्ध-जयंती समारोह में भारत-सरकार ने राष्ट्रपति भवन के दरबार हॉल में बौद्ध कला की एशियाई प्रदर्शिनी का आयोजन किया। शिवराममूर्ति जी ने विदेशो से बौद्ध कला कृतियाँ मँगा कर इस प्रदर्शनी को प्रभावोत्पादक बनाया और स्वयं उन्होंने उसका विवरण-ग्रन्थ तैयार किया। उस समय तक नई दिल्ली स्थित राष्ट्रीय संग्रहालय का निर्माण नहीं हुआ था अतः तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद जी से विशेष अनुमति प्राप्त करके बौद्ध कला-कृतियों का दरबार

---

1 'कल्चरल कनक्वेस्ट्स एण्ड स्कल्पचरल मिग्रेशन्स इन साउथ इंडिया एण्ड डेकन' कलकत्ता 1955 पृष्ठ 1

हाल म ही रहन दिया गया। सन् 1958 मे इस संग्रहालय के अध्यक्ष पद पर श्रीयुत शिवराममूर्ति कार्य कर रह थे। दर्शकों को इस संग्रहालय में जाने की अनुमति थी। उन दिनों मे सगरिया (जिला गंगानगर, राजस्थान) की शिक्षण संस्था 'ग्रामोत्थान विद्यापीठ' स सम्बद्ध संग्रहालय में 'क्यूरेटर' था। संग्रहालय में कई कक्ष थे और उस सारी सामग्री का संकलन स्वय स्वामी केशवानन्द संसद सदस्य (राज्य-सभा) ने किया था।

श्री शिवराममूर्ति से मैं मिलने का समय न ले पाया, फिर भी मै राष्ट्रपति भवन पहुँच गया। सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर पहुँचा तो राष्ट्रपति भवन के उस प्रवेश द्वार पर ही एक सुन्दर, स्वस्थ बछड़े का खड़ा देखा, मांसल, हृष्ट पुष्ट। वह रमपुरवा (बिहार) के अशोकीय एकाश्मक स्तम्भ का शीर्ष-भाग था। मैं कुछ देर तक उसे मन्त्रमुग्ध सा देखता रहा। संग्रहालय के प्रवेश-द्वार में घुसते ही शिवराममूर्ति जी का कक्ष था। मेरे नाम पर चिट देखकर उन्होंने मुझे तत्काल बुलाने की कृपा की। वे मेरे आचार्य श्री वासुदेवशरण जी अग्रवाल के पुराने मित्र थे और मेरे लिए गुरु-तुल्य ही थे। कहते हैं कि देव-मन्दिर म गुरु के पास, राजसभा में और बच्चो वाले घर म खाली हाथ नहीं जाना चाहिये। नियंता कभी- कभी ऐसे संयोग खड़े कर देते हैं कि बाद में आश्चर्य होता है। वे ही तो सब की 'योग-क्षेम वहन' करते हैं। मैंने शिवराममूर्ति जी को भेंट करने के लिए अपनी पुस्तक 'नटराज' रख ली थी। तब मुझे यह आभास न था कि भगवान् नटेश्वर उनके कुल-देवता हैं अथवा वे भविष्य मे 'नटराज इन लिटरेचर एण्ड आर्ट' जैसी अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की कोई महान् कृति प्रस्तुत करेंगे।

शिवराममूर्ति साहब ने प्रसन्न भाव म मेरे हाथ से पुस्तक ले ली। पुस्तक के मुख्य पृष्ठ पर 'नटराज' (मद्रास संग्रहालय) का चित्र था, इसलिए उन्होंने उसे माथे से लगाया। मैं नही जानता था कि वे हिन्दी जानते थे या नहीं परन्तु संस्कृत के तो प्रकाण्ड पंडित थे ही। बाद में उनकी चर्चा उस संग्रहालय पर केन्द्रित हो गई, जहाँ कि उन दिनों मैं कार्य कर रहा था। संग्रहालय कब, कैसे प्रारम्भ हुआ? उसमें कौन-कौन से कक्ष हैं? विशिष्ठ कला वस्तुएँ क्या हैं, आदि। वे बीच में कुछ लिखते भी जा रहे थे। मैं नहीं समझ पा रहा था कि एक छोटे से संग्रहालय मे उनकी इतनी दिलचस्पी क्यों है?

अगले वर्ष सन् 1955 में मुझे उनके द्वारा भेजी गई एक पुस्तक मिली, 'डिक्शनरी ऑफ म्युज़ियम्स इन इण्डिया', स्वय शिवराममूर्ति जी ने उसकी सारी सामग्री एकत्रित करके सम्पादन किया था। उसमे भारत के संग्रहालयों का वर्गीकरण करके संग्रहालय के इतिहास, कक्षों तथा कला-कृतियों का सविस्तार परिचय दिया गया था। ग्रन्थ के अन्त में चित्र-फलक भी दिए गए थे। शोध छात्रों के लिए तो यह ग्रन्थ एक वरदान ही था। यदि किसी अध्येता को हाथी दाँत के शिल्प पर शोध कार्य करना हो तो उसे इस ग्रन्थ द्वारा बड़ी आसानी से यह

ज्ञात हो जायगा कि भारत के किस-किस संग्रहालय में हाथी दाँत के शिल्प के नमूने हैं। मैं नहीं जानता कि भारत में उससे पहले और बाद में भी ऐसी कोई डायरेक्टरी निकली है?

शिवराममूर्ति जी मूलतः संस्कृत-साहित्य के गम्भीर अध्येता थे और भारतीय कला उनकी रुचि का विषय था। इन दोनों को निकट लाकर शिवराममूर्ति जी ने 'मणि-कंचन का संयोग' किया। यह एक स्तुत्य कार्य था। किस महाकाव्य का कौन-सा अंश या परिकल्पना मूर्ति- शिल्प में अभिप्राय अथवा प्रतीक मूर्ति रूप में साकार हुआ है, इसका अध्ययन उन्होंने पाठकों के आगे प्रस्तुत किया। सन् 1973 में पूना के भण्डारकर आरिएन्टल इंस्टीट्यूट के मुख-पत्र में श्रीयुत शिवराममूर्ति का एक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ, ''संस्कृत लिटरेचर इल्यूमाइन्स आर्ट (संस्कृत साहित्य द्वारा कला पर प्रकाश) इस लेख में संस्कृत साहित्य के विभिन्न अंशों तथा कला के सादृश्ययुक्त नमूनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था। और उसे स्वयं शिवराममूर्ति जी ने अपने हाथ के रेखा-चित्रों से अलंकृत किया था। वे स्वयं बहुत अच्छे चित्रकार थे और उनकी कई पुस्तकों में उनके बनाए हुए रेखा-चित्र मिलते हैं। भारत और वृहत्तर भारत के मूर्ति शिल्पियों ने एलोरा, एलीफैण्टा व बादामी से लेकर परम्बनम (कम्बोडिया) तक में महाभारत और रामायण के अंशों को बड़ी तन्मयता के साथ उत्कीर्ण किया है। एलोरा का 'कैलाश उठाता हुआ रावण' ऐसी ही एक जीवन्त प्रस्तरांकन है। महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव में योगी शिव का एक शब्द-चित्र है--

उन्होंने वीरासन लगा लिया है। वे सीधे, अचल बैठे हैं।....वे सर्पों से अपनी जटाएं बाँधे हुए हैं। भौंहे तानकर कुछ-कुछ प्रकाश देने वाली, अपनी किरणे नीचे डालने वाली अपलक आँखो से, वे अपनी नासा के अग्र-भाग पर दृष्टि जमाए बैठे हैं। वे शरीर के भीतर चलने वाले सब पवनों को रोककर ऐसे बैठे हैं, मानों बरसने वाला मेघ हो, लहरहीन शांत सरोवर हो, या पवन रहित स्थान में खड़ी लौ वाला दीपक हो।

ऐसा लगता है कि एलीफैण्टा के परवर्ती मूर्तिकार के मानस चक्षुओं के आगे 'योगी शिव' का प्रस्तरांकन करते समय महाकवि कालीदास का उपरोक्त शब्द-चित्र रहा है। शिवराममूर्ति साहब की एक प्रारम्भिक कृति है--'स्कल्पचर्स इन्सपायर्ड बाई कालिदास' (कालिदास द्वारा प्रेरणा-प्रदत्त मूर्ति-शिल्प)। यह पुस्तक सन् 1982 में मद्रास की संस्कृत एकाडमी से प्रकाशित हुए थी। कला के पारखियों और संस्कृत के विद्वान् दोनों को यह पुस्तक अपने ढंग की अनूठी लगी और आलोचकों ने उसकी मुक्त कंठ से सराहना की। शिवराममूर्ति का यह एक अभिनव प्रयास था। पुस्तक के रेखा-चित्र स्वयं लेखक ने तैयार किए थे। बाद में डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल का भी इसी विषय पर एक लेख प्रकाशित हुआ था। डॉ0 अग्रवाल ने हिन्दी में एक सर्वथा नई विधा प्रारम्भ की। उन्होंने महाकवि

कालिदास के 'मेघदूत', बाण के 'हर्षचरित', 'कादम्बरी' और मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' सांस्कृतिक अध्ययन लिखे। डॉ० अग्रवाल ने अपने 'हर्ष चरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन' में मूर्ति शिल्प तथा चित्र-कला के नमूने भी दिये, जो विषय वस्तु में सादृश्य रखते थे अथवा उसे स्पष्ट करते थे। मेरे मन में एक कचोट रह गई है कि काश, 'रघुवंश' पर भी इसी प्रकार का काम करता लेकिन आज न वह मेधा है और न वह अन्तर्दृष्टि। सन् 1955 में श्री शिवराममूर्ति का एक अन्य महत्वपूर्ण लेख (मोनोग्राफ) प्रकाशित हुआ 'संस्कृति का दर्पण' इसमें भी स्वयं उनके बनाए हुए 91 रेखांकन हैं। कितने विशाल संस्कृत साहित्य और भारतीय कला की कितनी शैलियों का अवगाहन करना पड़ा होगा, उस कला-ऋषि को केवल उसकी कल्पना की जा सकती है। बड़ी अद्भुत स्मरण शक्ति थी उनकी कि एक प्रतीक या अभिप्राय का जिक्र आते ही सभी शैलियों में उत्कीर्ण अथवा अंकित वह अभिप्राय मानो उनकी दृष्टि के आगे प्रत्यक्ष हो जाता था। कालिदास उनके सर्वाधिक प्रिय कवि थे। उन्होंने अपने एक लेख 'न्यूमिसमैटिक्स पैरलल्स ऑफ कालिदास' (कालिदास के ग्रन्थों में मुद्राशास्त्र के समानान्तर नमूने) खोजे। उनकी यह पुस्तक सन् 1945 में शक्ति कार्यालय मद्रास में प्रकाशित हुई। किसी कला-वस्तु का, कला-तीर्थ का काल निर्णय शिवराममूर्ति जी इतिहास, साहित्य, वेशभूषा तथा आभूषण आदि के अध्ययन के पश्चात ही करते थे।

मुद्राशास्त्र श्रीयुत शिवराममूर्ति की लेखनी से छूटा नहीं। उनके प्रारम्भिक लेखों में से एक 'बालकृष्ण क्वाइन ऑफ कृष्णदेवराय' सन् 1937 में जनरल ऑफ ओरिएन्टल रिसर्च, मद्रास में छपा था। इस सिक्के के साथ उन्होंने विजय नगर के तत्कालीन इतिहास तथा उसके प्रसिद्ध नृपति कृष्णदेवराय पर भी प्रकाश डाला था।

श्री शिवराममूर्ति के लेखन का विस्तार कितना बड़ा रहा, यह कहा भी नहीं जा सकता क्योंकि उनकी बहुत सी कृतियाँ तो दुर्लभ, अनुपलब्ध हो चुकी हैं। जहाँ उन्होंने तंजोर के वृहदीश्वर मन्दिर, गंगइ कोण्डाचोलपुरम् के शिव मन्दिर तथा दारासुरम् के ऐरावतेश्वर मन्दिर पर परिचयात्मक पुस्तकें लिखीं, वहीं, पुरातत्व-सर्वेक्षण के लिए उन्होंने 'महाबलीपुरम्' की मार्ग-दर्शिका भी तैयार की। जावा का प्रख्यात् महास्तूप और उसके प्रस्तरांकन उनका प्रिय विषय था। बोरोबुदूर में बुद्ध-जीवन पर आधारित सैकड़ों शिला-चित्र हैं, जिन्हें एक रूप-रेखा तैयार करके अलग-अलग प्रस्तर खण्डों पर उकेरा गया है, और फिर उन चौकोर खण्डों को दीवारों पर मिलाकर जड़ा गया है और उनसे एक कथांश तैयार किया गया है। यद्यपि ये प्रस्तरदृश्य अर्द्ध-चित्र (बैलरिलीफ) हैं, किन्तु बोरोबुदूर के शिल्पी ने इतने सुन्दर ढंग से, इतनी गहरी कटाई की है कि वे मूर्ति ही बन गये हैं। वे संख्या में इतने अधिक हैं कि यदि उनको मिलाकर रखा गया होता तो वे कई किलोमीटर की दूरी माप लेते

श्री शिवराममूर्ति का जन्म दक्षिण भारत में सन् 1909 में 11 जुलाई को हुआ। वे उस परिवार के वंशधर थे, जिसमें सोलहवीं शताब्दी में अपने युग के प्रख्यात दार्शनिक अप्पैया दीक्षितार हुए थे। शिवराममूर्ति के पिता सुन्दरशास्त्री संस्कृत के प्रकाँड विद्वान् थे और उन्होंने रामचरित के आधार पर 'सुन्दर रामायण' की रचना की थी। तत्कालीन विद्वानों ने इस महाकाव्य को एक श्रेष्ठ कृति माना और उसकी भावव्यंजना की सराहना की। श्री सुन्दरशास्त्री एक राजकीय अधिकारी तहसीलदार थे उन दिनों जबकि उच्च पदों पर केवल अंग्रेजों की नियुक्ति की जाती थी, तहसीलदार का पद एक अच्छा-खासा ओहदा समझा जाता था।

श्री सुन्दर शास्त्री उदार विचारों के व्यक्ति थे और वे सभी धर्मों संप्रदायों का आदर की दृष्टि से देखते थे। श्री आदि शंकराचार्य ने देखा कि शैव, भागवत शाक्त अथवा सौर सम्प्रदायों के लोग अपने आराध्यों के प्रति तो पूज्य भावना रखते हैं किन्तु अन्य सम्प्रदाय के अनुयायी को द्वेषभाव से देखते हे, तब उन्होंने एक ऐसे धर्म का प्रतिपादन किया, जिसमें यह अनुदार भावना न हो। 'पंचायतन पूजा' का प्रारम्भ हुआ। इसके उपासक विष्णु, शिव, सूर्य शक्ति तथा गणेश की पूजा करते हुए भी गौण रूप में अन्य देवता की भी उपासना करते थे। 'पंचायतन पूजा' में आराध्य के स्थान पर बिल्लौर, स्वर्णमाक्षिक आदि को रख लिया जाता था। वास्तु-शैली में भी समन्वय की यही भावना मुखरित हुई। 'पंचायतन' शैली में जिन मन्दिरों की रचना हुई, उनमें आराध्य देव की प्रतिमा मुख्य मन्दिर के गर्भ-गृह में प्रतिष्ठित की जाती थी और शेष चार देवगण की छोटे कोनों पर स्थित मन्दिरों में। पारिवारिक परिवेश के कारण बालक शिवराममूर्ति के मन में समन्वय और धार्मिक सहिष्णुता के बीज बचपन में ही पड़ गए और वे आगे चलकर पुष्पित तथा पल्लवित हुए। यह संस्कार इतने प्रबल थे कि बालक, राम गणेश की मिट्टी की मूर्ति नित्य पूजा के लिये बनाने लगा। चित्रकला की रुचि बचपन में ही जाग चुकी थी।

श्री शिवराममूर्ति की यह समन्वयात्मक दृष्टि उनकी कृतियों में भी बिम्बित हुई। भारतीय शिल्प में अर्धनारीश्वर, हरिहर, हरिहर हिरण्यगर्भ आदि ऐसी प्रतिमाएँ मिलती हैं, जिनमें प्रतीक-रूप में दो अथवा अधिक देवताओं को सम्मिलित प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार कुछ ऐसे शिवलिंग भी मिले है जिनमें उनकी चारों दिशाओं में शिव, विष्णु, सूर्य, देवी अथवा गणेश उत्कीर्ण किए गए हैं। कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में भी शिवराममूर्ति जी को ऐसी ही एक शिव-लिंग मूर्ति मिली। जिस पर उन्होंने अपना अध्ययन प्रस्तुत किया। जिन दिनों शिवराममूर्ति जी कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष थे उन्हें इसी प्रकार का जावा का एक शिव-लिंग मिला। यह सुन्दर कलाकृति गुप्त काल की थी और भारतीय प्रतीक विद्या से प्रभावित थी। उसे प्रकाश में लाने का श्रेय भी भारतीय विद्याओं को समर्पित इस विद्वान् को ही है।

जिन दिनों शिवराममूर्ति मद्रास के राजकीय संग्रहालय के अध्यक्ष थे, उन्हीं दिनों संग्रहालय में एक अद्भुत, सनन्यागवर्ती मूर्ति प्राप्त हुई। इसमें शिवलिंग के चारों ओर सूर्य, विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा की खड़ी हुई आदमकद मूर्तियाँ प्रतिमा लक्षणों के साथ उकेरी गई थीं। यह प्रतिमा भी गुप्त काल की ही थी जो अब राष्ट्रीय संग्रहालय में संरक्षित है। श्रीयुत शिवराममूर्ति ने इसकी प्रतीकात्मकता पर एक गवेषणापूर्ण लेख लिखा 'एन इन्टरेस्टिंग गुप्ता चतुर्मुख सूर्य'' (सूर्य की एक गुप्तकालीन महत्त्वपूर्ण चतुर्मुख प्रतिमा)। अंग्रेजी उनके लिए मातृभाषा जैसी ही थी और वे उसके शब्दों की छवियों से परिचित थे। इस भाषा के माध्यम से ही उन्होंने डॉ0 कुमारस्वामी अथवा सुश्री स्टेला क्रैमरिश की भाँति विश्व को भारतीय कला और उसकी विशेषताओं से परिचित कराया। न्यूयार्क के प्रख्यात प्रकाशक मैकग्रोहिल ने जब इनसाइक्लोपीडिया ऑफ वर्ल्ड आर्ट 15 वोल्यूम्स (विश्व कला का विश्वकोश) प्रकाशित किया तो उन्होंने भारतीय विषयों पर टिप्पणियाँ लिखने के लिए श्रीयुत शिवराममूर्ति को आमन्त्रित किया और उन्होंने 'द्राविड़ आर्ट' व 'आंध्र कला' पर अपनी प्रविष्टियाँ लिखीं। इस अन्तर्राष्ट्रीय ग्रन्थ में, जिसके इटैलियन, फ्रेंच और कई यारोपीय भाषाओं में संस्करण निकले, 'अजन्ता' पर हैदराबाद के वरिष्ठ कला इतिहासकार श्री गुलाम हसन याज़दानी की प्रविष्टि थी।

किसी भी प्रतिमा का उल्लेख करते समय वे उसके शिल्प लक्षण आभूषण, वेषभूषा, वाहन तथा आयुध या आयुध पुरुषों का ऐसा सजीव वर्णन करते थे कि उसका चित्र पाठक के मन:चक्षुओं के आगे साकार हो उठता था। साथ ही वे उसमें अपनी जो टिप्पणी जोड़ते थे, वह तो अपने ढंग की अनूठी होती थी। राष्ट्रीय संग्रहालय में संरक्षित 'चतुर्मुखी सूर्य' की सूर्य-प्रतिमा का वर्णन करने के पश्चात् उन्होंने लिखा है--''सूर्य का कर्त्तव्य है, विश्व में सदाचरण की रक्षा और उसका उत्थान। अपने स्वर्णिम रथ में बैठकर वे आकाश की परिक्रमा करते है और धरती के मानव और स्वर्ग के देवता, दोनों के भले बुरे कार्यों को देखते है। वे आचरण के उच्च मानदण्ड स्थापित करते हैं।'' सत्य भी यही है कि रात के घने अंधकार में जितने पाप कर्म: दुष्कृत्य होते हैं, उतने दिन के उजाले में नही, प्रतिभा-शास्त्री शिवराममूर्ति अपनी शिक्षण संस्थाओं को गौरव देते हुए भगवती सरस्वती के मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। इस प्रकार अनेक पदक और पुरस्कार अर्जित करते हुए उन्होंने मद्रास के प्रैसीडैन्सी कॉलेज से संस्कृत विषय लेकर एम0 ए0 उत्तीर्ण कर लिया। पिताश्री सुन्दरशास्त्री का बीच में ही निधन हो जाने के कारण शिवराममूर्ति जी के बहिन और बहनोई उनके अभिभावक बने। कुशाग्र बुद्धि होने के कारण उन्हें छात्र-वृत्ति मिल गई और महामहोपाध्याय

बुलैटिन ऑफ नेशनल म्युजियम नई दिल्ली संख्या 3

श्री कृप्पूस्वामी शास्त्री के निर्देशन में उन्होंने अपना शोध-कार्य पूरा कर लिया। शिवराममूर्ति को दो विषय अति प्रिय थे, 'संस्कृत साहित्य और चित्रकला'। अपने शोध-पत्र में उन्होंने इन दोनों विषयों को मिला दिया--'संस्कृत साहित्य में चित्रकला'।

श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् उन दिनों वाल्टेयर स्थित आंध्र विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर थे। उनकी इच्छा थी कि शिवराममूर्ति जी की उस विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में व्याख्याता के रूप में नियुक्ति हो जाय किन्तु किसी कारणवश वह सम्भव न हो सका। वे तंजौर गए और श्री एस0 के0 गोविन्द स्वामी के सान्निध्य में रहकर उन्होंने 'चोल-कला' से निकट का परिचय प्राप्त किया। 'चोल-कला' का क्षेत्र बहुत व्यापक था। उसमें वास्तु, मूर्ति-शिल्प भित्ति-चित्र तथा कांस्य प्रतिमाओं का समावेश था।

नियंता जब किसी से कोई महत् कार्य सम्पन्न कराना चाहते है तो उसी प्रकार के संयोग भी सामने ले आते है। शिवराममूर्ति जी की उन्हीं दिनों श्रीयुत टी0 एन0 रामचन्द्रन से भेंट हुई। यह भेंट श्री शिवराममूर्ति के जीवन मे एक महत्वपूर्ण मोड सिद्ध हुई। उनके साथ वे तिरूमालाई गए। निकट ही पाण्ड्य काल में निर्मित कुछ गुहा मन्दिर थे। रामचन्द्रन साहब ने उन कला-मण्डपों के सम्बन्ध में एक शोधपूर्ण निबन्ध लिखा जो कलकत्ता की कला-पत्रिका 'जनरल ऑफ दि इंडियन सोसाइटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट' में प्रकाशित हुआ। लेख का शीर्षक था 'दि केव टैम्पल्स निकट तिरूमलाईपुरम एण्ड देयर पेन्टिंग्स' (तिरूमलाई पुरम् के निकटवर्ती गुहा मन्दिर और उनके चित्र)। इस लेख के अंत में श्री शिवराममूर्ति ने दो पृष्ठों की टिप्पणियाँ दी थीं। अगले वर्ष सन् 1937 में इसी कला पत्रिका में शिवराममूर्ति जी का एक स्वतन्त्र लेख 'लेपाक्षी की चित्रकला' पर प्रकाशित हुआ। 'जनरल ऑफ दि इंडियन सोसाइटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट' भारत की प्रमुख कला पत्रिका थी, जिससे डॉ0 स्टैला क्रैमरिश और कलागुरु श्री अवनीन्द्र नाथ ठाकुर सम्बद्ध थे। विदेशों में भी इस पत्रिका का सम्मान था। यह शिवराममूर्ति जी के प्रारम्भिक लेख थे।

श्री टी0 एन0 रामचन्द्रन का नाम आते ही मुझे अपने बचपन मे पढ़ा एक लेख स्मरण हो आता है। उन दिनों मै मैंनपुरी में 9वीं कक्षा का विद्यार्थी था। स्थानीय श्री माथुर चतुर्वेदी पुस्तकालय मे प्रसिद्ध इतिहासकार श्री गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा का अभिनन्दन ग्रन्थ 'भारतीय अनुशीलन' आया। उसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग में उन्हे भेंट किया गया। इस ग्रन्थ की विशेषता यह थी कि इसमें संसार के अनेक विद्वानों के विदेशी भाषाओं के लेख भी थे। लेख मूल अंग्रेजी, जर्मन तथा फ्रैंच आदि मूल भाषाओं में थे किन्तु प्रारम्भ में उनका संक्षिप्तीकरण हिन्दी में दिया गया था। वैसा अद्भुत ग्रन्थ फिर कभी देखने मे नहीं आया। 'भारतीय अनुशीलन' मे ही श्रीयुत टी0 एन0 रामचन्द्रन का एक लेख

था 'पल्लव चित्रकला'। इसके श्री राय कृष्णदास जी का 'भारतीय चित्रकला' ने मन में उसके प्रति एक लगाव पैदा कर दिया। यह लेख तत्कालीन पदुदुकोटाई राज्य में स्थित जैन गुहा मन्दिर 'सित्तन्नवासल' (सिद्धान्तवास) के सम्बन्ध में था। उन दिनों अंग्रेजी तो मैं कम ही पढ़ पाता, उसके सचित्र रूप पर ही मुग्ध हो गया। बाद में मूल अंग्रेजी लेख भी पढ़ा। डॉ. रामचन्द्रन साहब का इसी विषय पर लेख ललित कला, नई दिल्ली में भी प्रकाशित देखा। रामचन्द्रन साहब की भारतीय कला को एक मूल्यवान देन है 'किरातार्जुनीय इन इंडियन आर्ट' यह लेख भी कलकत्ता की उपरोक्त कला पत्रिका में ही प्रकाशित हुआ। सौ पृष्ठों से भी अधिक का बड़े आकार में सचित्र छपा यह लेख उनकी एक अविस्मरणीय कृति है।

श्री शिवराममूर्ति मद्रास संग्रहालय में पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। मद्रास संग्रहालय धातु तथा कांस्य प्रतिमाओं का विशाल भण्डार है। 'नटराज' की विश्व-प्रख्यात मूर्ति जिसकी डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी, तथा शिल्पकार रॉडेन ने मुक्त-कंठ से सराहना की है, इसी संग्रहालय की निधि है। शिवराममूर्ति जी ने इस संग्रहालय में रहकर पल्लव और चोल कांस्य प्रतिमाओं और उनके शिल्प-शास्त्रीय लक्षणों का निकट से विभिन्न अध्ययन किया। उन्होंने वहाँ रहकर अनेक लेख लिखे। संग्रहालय में जब भी कोई नई प्रविष्टि हुई, शिवराममूर्ति का लेख उस पर निकला। 'श्री नटेश इन मद्रास म्यूजियम' उनका ऐसा ही सुन्दर अध्ययन है। इस गहरे अध्ययन के आधार पर ही थे 'साउथ इंडियन ब्रॉन्जेज' (ललित कला अकादमी न्यू दिल्ली) तथा 'नटराज इन लिटरेचर एण्ड आर्ट' जैसी महत्वपूर्ण कृतियाँ विश्व के कला-पारखियों के आगे रखने में समर्थ हुए। इन ग्रन्थो ने विदेश में भारतीय पांडित्य का मस्तिष्क ऊँचा किया है। मद्रास संग्रहालय मे रहकर ही उन्होंने अमरावती के भग्न महास्तूप के मूर्ति-खण्डों पर एक विशाल ग्रन्थ तैयार किया, बड़े आकार के पौने चार सौ पृष्ठ का, जिसमें 65 चित्र फलक थे। अमरावती के बौद्ध-शिल्प पर यह अपने ढंग का प्रथम ग्रन्थ था--राजवंशों का इतिहास, मूर्ति-शिल्प और उसकी प्रतीकात्मकता।

अमरावती मद्रास से कुछ दूर गुंटूर जिले में स्थित थी। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में आंध्र नृपतियों का प्रताप सूर्य अपनी प्रखर किरणों से चमक रहा था। वे ब्राह्मण थे धार्मिक सहिष्णुता के कारण बौद्ध धर्म को भी प्रश्रय देते थे। वे कला के मर्मज्ञ थे और ललित कलाओं को प्रश्रय देते थे। उन्होंने एक भव्य बौद्ध स्तूप का निर्माण कराया और उसे संगमर्मर की शिलाओं से ढँक दिया। अमरावती के भव्य स्तूप में लगभग सत्रह हजार वर्ग फुट संगमर्मर पर बुद्ध जीवन के दृश्य, अन्य मानव आकृतियाँ, पशु तथा अलंकरण बनाये थे। उसे साँची जैसी ही एक वेदिका घेरे थी। अमरावती से प्राप्त शिला-खण्डों में इस स्तूप का भी एक अंकन मिला है जिससे ज्ञात होता है कि यह कैसा रहा होगा। कृतियों में भक्ति भावना प्रधान है। इसके उत्खनन के पश्चात् लगभग आधे शिल्प दृश्य अंग्रेज शासक

इग्लेण्ड ले गए और आधे मद्रास संग्रहालय को दे दिए गए।[1] शिवराममूर्ति जी का ग्रन्थ इन्ही को लेकर लिखा गया है। यह उनकी सन 1942 की कृति है।

कई वर्ष तक मद्रास संग्रहालय मे रहकर श्री शिवराममूर्ति सन् 1955 के करीब कलकत्ता आ गए। वहाँ वे प्रसिद्ध 'भारतीय सग्रहालय' म पुरातत्व तथा कला-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उत्तर भारत मे यह सग्रहालय सबसे पुराना तथा महत्वपूर्ण समझा जाता था। सर अलेक्जेण्डर कनिघम ने भरहुत स प्राप्त सारी कला-सम्पदा इस सग्रहालय मे ही भिजवाई थी और बगाल और बिहार की पाल और सेन कालीन कला कृतियों का संग्रह भी यहाँ हुआ था। इस प्रकार शिवराममूर्ति जी को उत्तर भारत का कला निधि को भी देखने, समझने का एक अवसर मिला।

कलकत्ता संग्रहालय मे पुरातत्व तथा कला विभाग के अध्यक्ष के पद पर कार्य करते समय उन्होंने एक छोटी किन्तु अत्यंत महत्वपूर्ण पुस्तक की रचना की 'रॉयल कॉन्क्वेस्ट्स एण्ड कल्चरल मिगरेशन्स इन साउथ इडिया एण्ड दि डकेन।'

इस पुस्तक मे उन्होंने दक्षिण भारत में पल्लव, चोल आदि राजवशो और दक्षिण पूर्व एशिया क राजवश के सास्कृतिक सम्बन्धो की कथा कही है और भारतीय प्रतीको तथा अभिप्रायों न जावा, बाली, कम्बोडिया आदि देशा की यात्रा कैसे की इस पर भी पकाश डाला है। उनकी यह दृढ धारणा है कि भारतीय मूर्तिशिल्प के आधार भूत तत्वो मे एक साम्य है और विविधता मे भी एकता है। उन्होंने इस तथ्य पर विशष बल दिया है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे आराध्यों के वेश- भूषा, आभूषण ही नहीं, उनकी आकृतियो में भी एक समानता थी, चाहे वे मध्य प्रदेश में सांची या भरहुत की हो, उड़ीसा की उदयगिरि खण्ड गिरि गुहाओं की हो अथवा दक्षिण में अमरावती के महास्तूप की।[2]

श्रीयुत शिवराममूर्ति ने अपने एक लेख में 'शख और चक्र' की प्रतीकात्मकता पर प्रकाश डाला है। यह लेख उन्होंने अपने मित्र डॉ0 वासुदव शरण अग्रवाल के आग्रह पर उनके आचार्य डॉ0 राधा कुमुद मुकर्जी के अभिनन्दन ग्रन्थ में लिखा था। इन दोनो प्रतीको का मानव विग्रह में भी अंकन हुआ। शंख की गणना निधियों में होती थी और चक्र गत्यात्मकता का प्रतीक था। भारतीय कला मे कई स्थानो पर आयुध पुरुष के रूप मे चक्र की प्रतिमायें मिलती हैं।

शिवराममूर्ति जी ने अंग्रजी के माध्यम से विपुल साहित्य की रचना की है और भारतीय कला क गूढ़ार्थ की स्पष्ट व्याख्या की है। उनका साहित्य निश्चित ही भविष्य मे भारतीय भाषाओं में रूपान्तरित होगा। वह तो हमारी मूल्यवान्

---

1 यह सामग्री इग्लेण्ड ले जाकर लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में रखी गई। श्रीयुत डगलस बारेट ने इस पुस्तक की रचना की, "स्कल्पचर्स ऑफ अमरावती इन दि ब्रिटिश म्युजियम, लन्दन, 1954, 74 पृष्ठ 48 फलक

2 रायल कॉनक्वेस्ट्स एण्ड कल्चरल मिगरेशन्स इन साउथ इंडिया एण्ड दि डकन कलकत्ता 1955

सांस्कृतिक धरोहर है। शिवराममूर्ति जी ने सुश्री मारियो बुसग्ली के साथ 'फाइव थाउजन्ड इयर्स ऑफ इंडियन आर्ट' की रचना की। इसमें उन्होंने भारतीय कला की विभिन्न शैलियो का सिंहावलोकन प्रस्तुत किया है। शिवराममूर्ति जी की इंडियन पेन्टिंग (भारतीय चित्र कला) में उन्होंने विषय वस्तु को सारी परिधि घेर ली है। यह दोनों पुस्तक अध्येता और सामान्य पाठक दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी है। 'गंगा', नटराज इन लिटरेचर एण्ड आर्ट, साउथ इन्डियन पेन्टिंग्स आदि उनकी अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनायें हैं। 'पेन्टर्स इन एन्शियेन्ट इन्डिया' एक शोधपूर्ण ग्रन्थ है, जिसकी अपनी निज की उपादेयता है। इस छोटे से लेख में उनके समस्त ग्रन्थों तथा लेखो का नामोल्लेख कर सकना भी सम्भव नहीं है। 'गंगा' के सम्बन्ध में श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय ने लिखा है :--

श्री शिवराम मूर्ति की सभी पुस्तकों में सम्भवत: 'गंगा की कथा' उनकी सबसे विमुग्धकारी कृति हैं। सूर्य की किरणें पड़ने से जैसे गंगा की जल-राशि झिलमला उठती है, वैसे ही इस पुस्तक का एक एक पृष्ठ कांतिमय है। विविध चित्रों ने गंगा सौंदर्य के निरूपण में मणि कांचन का योग किया है। 'गंगा' के मनोहारी चित्रों ने उसकी श्री-वृद्धि की है। यह चित्र बड़े जीवंत हैं। यह पुस्तक एक अतीव सौन्दर्य शालिनी कुमारी के रूप में गंगा के व्यक्तित्व का एक विरल अध्ययन है, जिसमे गंगा की शाश्वत् रूप-राशि बिम्बित हुई है।

नटराज उनका सेवा-निवृत्त होने के पश्चात् नेहरू फैलोशिप पर लिखा गया ग्रन्थ है। नटराज की प्रस्तर-मूर्तियाँ सारे देश में विभिन्न शैलियों में बिखरी हुई हैं। यही परिकल्पना कालान्तर में पल्लव और चोल शिल्प शैलियों में कांस्य के रूप में उतरी। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे यदा कदा उनके दर्शनों का सौभाग्य मिलता रहा। उनसे मिलना अपने आप में एक सुखद अनुभव था दुर्भाग्य से हमारे बीच में से वह पीढ़ी तिरोहित होती जा रही है, जो मुझ जैसे छोटे लोगों को अपना अहेतुक स्नेह और प्रेरणा देती थी।

मुझे उनके अंतिम दर्शन 'गैलरी ऑफ माडर्न आर्ट' जयपुर हाउस, नई दिल्ली में हुए। वहाँ प्रख्यात् कला इतिहासकार हरमन गोइत्स की शोक सभा थी, उन्हे अपनी भावभीनी श्रद्धाजलि देने के पश्चात् वे सुधियो में खोए से बाहर निकले। उनकी वह मुद्रा भुलाई नहीं जा सकती। उसके बाद मैं भोपाल चला गया। एक दिन वहीं समाचार-पत्रों में यह पढ़कर स्तब्ध रह गया कि हृदय गति बन्द हो जाने से शिवराममूर्ति ने शिव लोक की यात्रा कर ली। जैसे बापू के अंतिम शब्द थे 'हे राम' वैसे ही शिवराममूर्ति जी के अन्तिम उच्चरित शब्द थे 'शिव शम्भो! शिव शम्भो।' वे घर से राष्ट्रीय संग्रहालय क्रय समिति की बैठक में भाग लेने आए थे, तभी यह दुर्घटना हुई।

मानव शरीर नश्वर है। एकदिन सभी को जाना है, किन्तु शिवराममूर्ति जी जैसे व्यक्ति अपनी यश-काय छोड जाते हैं।

□□

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवा...

सन् 1948 का दिसम्बर मास था। अहमदाबाद की गुजरात विद्या-सभा क तत्वावधान में चार दिवसीय भाषण माला का आयोजन था। विषय था 'मथुरा कला' भाषणकर्त्ता थ डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल और अध्यक्ष थे, श्रीयुत गणेश वासुदव मावलकर। इस महत्वपूर्ण भाषण माला मे अहमदाबाद और बडोदा क अनक प्रबुद्ध नागरिकों तथा विद्वानो की उपस्थिति थी, पं0 उमाशंकर जोशी कला-गुरु रविशंकर रावल, गुजराती क वरिष्ठ कथा-शिल्पी धूमकेतु, प्रख्यात भाषा-शास्त्री पं0 केशवराम काशीराम शास्त्री और डॉ0 हरप्रसाद देसाई आदि।

गुजरात विद्या सभा के प्रधान मन्त्री ने विद्वान् अतिथि का परिचय दिया। डॉ0 वासुदव शरण जी अग्रवाल, ऊनी शेरवानी, ऊनी रंग की टोपी आर चूडीदार पाजामा पहने मंच पर आय करतल ध्वनि के पश्चात् उन्होंने अपना व्याख्यान प्रारम्भ किया। व्याख्यान चित्रमय था। 'स्लाइड प्रोजेक्टर' उन दिनो इतना लाकप्रिय न हुआ था। सीधे फोटाग्राफ रखकर ही 'एपीडाइस्कोप' पर व्याख्यान शुरू हुआ। श्रोताओं को यह देखकर बहुत आश्चर्य हो रहा था कि अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का एक विद्वान् जो कई अंग्रेजी ग्रन्थों का प्रणेता भी है, सरल, सुबोध किन्तु धाराप्रवाह हिन्दी में व्याख्यान द रहा है। पर्दे पर मूर्तियों के चित्र आते जा रह थे और वह एक हाथ में 'पाइन्टर' लिए उनकी शैलीगत लाक्षणिकतायें समझा रहा था। विषय के कठिन शब्दों 'टेक्निकल टर्मिलाजी' को वह सरल करके बतला रहा था। व्याख्यान माला में उत्तरोत्तर श्रोताओं की संख्या बढ़ती गई। मुझे इस बात पर आश्चर्य हो रहा था कि मूतिकला जैसे विषय में लोगों की इतनी दिलचस्पी? लेकिन गुजरात में शिक्षा के साथ सस्कार का अद्भुत मिलन हुआ है। वस्तुत: सस्कारिकता के बिना शिक्षा का कोई अर्थ भी तो नही है।

उन दिनो मैं अहमदाबाद में बिडला परिवार के एक संस्थान में कार्य कर रहा था। कई वर्ष अहमदाबाद मे रहने के कारण मै गुजराती जान गया था और धूमकेतु जी की कुछ कहानियों का हिन्दी अनुवाद भी कर चुका था। कला-गुरु श्री रविशंकर महाशंकर रावल की मुझ पर विशेष कृपा थी। वस्तुत: मुझमे कला के प्रति एक भक्ति मयी आस्था उन्ही ने जागृत की थी।

डॉ0 अग्रवाल की विहल और उसमें भी अधिक प्रांजल भाषा न दादा साहब मावलंकर के मन को छू लिया। उन्होने कहा, "डाक्टर वासुदेवशरण जी न मान्यता को चुनौती दी है कि अंग्रेजी के बिना हमारा काम नहीं चल सकता। अंग्रजी की अपेक्षा लोग हिन्दी द्वारा अधिक लाभ ले सकते है। सभा में इतनी बड़ी उपस्थिति का एक कारण यह भी है।"

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

सभा में पुरुषों के अतिरिक्त शिक्षित गृहणियाँ, कालेजों की छात्रायें और प्राध्यापिकायें बड़ी संख्या में आई थीं। कई श्रोताओं ने व्याख्यान के पश्चात् अग्रवाल जी से कुछ प्रश्न भी पूछे और उन्होंने जिज्ञासाओं का समाधान किया।

इस भाषण माला में ही मुझे इस ऋषि मनीषी के प्रथम दर्शन हुए। वे रावल जी के यहाँ बँगले 'चित्रकूट' में ठहरे थे। मैंने रविभाई से निवेदन किया और उनकी कृपा से डाक्टर अग्रवाल ने मुझे सबेरे 9-30 बजे आने का समय दे दिया। दूसरे दिन मैं निश्चित समय पर पहुँच गया। रविभाई उनको अपने संग्रह के दुर्लभ ग्रन्थ दिखा रहे थे।

चर्चा होने पर उन्होंने मुझे राय कृष्णदास जी की 'भारतीय मूर्तिकला' और 'भारतीय चित्रकला' पढ़ने की सलाह दी। यह दोनों पुस्तकें मैं पढ़ चुका था।

''तुम अंग्रेजी पढ़ और समझ लेते हो?'' उन्होंने पूछा।

''पढ़ और समझ तो लेता हूँ परन्तु अच्छी अंग्रेजी लिख नहीं पाता।'' मैंने निवेदन किया।

''कोई बात नहीं। हम लोगों को मातृभाषा में ही सोचने की आदत है और स्वाभाविक है। तुम श्रीयुत ई0 बी0 हैवल की 'आइडियल्स ऑफ इन्डियन आर्ट' पढ़ो, फिर उनकी 'इंडियन स्कल्पचर्स एण्ड पेन्टिंग'। भारतीयों या विदेशियों में भारतीय कला का हैवल जैसा आस्थावान् भक्त और कोई नहीं हुआ। उसके पश्चात् उन्होंने डॉ0 आनन्द के0 कुमारस्वामी का नाम बताते हुए कहा 'वे बहुत गम्भीर हैं और उनकी भाषा भी उनके गहन भावों के अनुरूप है।''

मैं ज्यों ज्यों हैवल साहब को पढ़ता गया, उनके विचार मेरे मन पर छाते गए; मैं उनका भक्त बन गया। मैं उनकी कला और इतिहास सम्बन्धी पुस्तकें खोज-खोज कर पढ़ने लगा। उन्होंने और कुमारस्वामी जी ने मुझ में भारतीय कला के प्रति श्रद्धा ही नहीं एक समर्पण भाव जागृत कर दिया। मेरे मन में आज भी गुरु के आसन पर अग्रवाल जी, हैवल साहब और डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी की अदेही प्रतिमायें आसीन हैं। जीवन में मैं इसे अपना सबसे बड़ा सौभाग्य मानता हूँ और अपने को बड़भागी मानता हूँ।

अग्रवाल जी के प्रत्यक्ष दर्शनों का प्रसाद मुझे मिला था। कुमारस्वामी साहब का चित्र उनके अभिनन्दन ग्रन्थ 'आर्ट एण्ड थॉट' (लन्दन) में मिल गया था लेकिन हैवल साहब? मैं अपने उस गुरु की एक झलक देखना चाहता था। परन्तु उनके किसी ग्रन्थ में न उनका चित्र था और न परिचय। कई वर्ष पश्चात मुझे हैवल साहब का जीवन-वृत्त (बायोडाटा) नेशनल आर्काइव्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली के पुस्तकागार में संग्रहीत एक ग्रन्थ में मिल गया। उसके काफी दिनों बाद ललितकला अकादमी के एक अधिकारी तथा मेरे मित्र दासगुप्ता साहब ने एक दिन मुझे विदेश में प्रकाशित एक ग्रन्थ देते हुए कहा, 'आप हैवल साहब का फोटो खोज रहे थे! इसमें है।' मैंने उस छोटे से चित्र का फिर फोटो खिंचवाया। वह इस

पुस्तक में प्रकाशित है आश्चर्य है उस व्यक्ति में इतना गहरा आत्मीय सम्बन्ध जुड जाता है, जिसे कभी देखा नहीं, कभी सुना नहीं केवल पढ़ा है। शायद विचारों का नाता ही सबसे घनिष्ठ, सबसे गहरा नाता होता है।

मुझे डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल के दर्शन तो सन् 1948 में हुए परन्तु उनके नाम से मैं किशोरावस्था से ही परिचित था। तब मेरे मैनपुरी नगर के श्री माथुर चतुर्वेदी पुस्तकालय में 'सुधा' और 'माधुरी' पत्रिकाएं आती थीं। यह दोनों लखनऊ से प्रकाशित होती थीं। मुझे याद है कि 'माधुरी' में अग्रवाल जी का लेख 'सहस्रशीर्षा पुरुष' प्रकाशित हुआ था। मैं उन दिनों उस लेख को समझता तो क्या परन्तु ऐसा लगा था कि लेखक विद्वान् है और उसका पुराणों का अच्छा अध्ययन है। उनका प्रसिद्ध लेख 'इतिहास दर्शन' भी पहले पहल माधुरी में ही छपा था। बाद में इसी शीर्षक से उनके इतिहास सम्बन्धी लेखों का एक संकलन भी प्रकाशित हुआ।

उससे भी पहले डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख 'गंगा' भागलपुर के पुरातत्व अंक में प्रकाशित हुआ था। उसमें लेखक का नाम वासुदेवशरण गोभिल छपा था। लेख मथुरा की कला और वहाँ के संग्रहालय के इतिहास से सम्बन्धित था। 'गंगा' का पुरातत्व अंक सन् 1933 में प्रकाशित हुआ था। उसका सम्पादन महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने किया था।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्ययन पूर्ण कर चुकने के पश्चात् वासुदेवशरण जी लखनऊ चले गए। उन दिनों उनका परिवार वहीं निवास कर रहा था। मुझे उनकी अग्रवाल कोठी, शिवाजी मार्ग में उनके पिता जी के दर्शन करने का सौभाग्य मिला है। उनके परिवार के कुछ लोग अब भी लखनऊ में ही निवास कर रहे हैं। अग्रवाल जी ने अपनी डाक्टरेट के लिए पाणिनि कालीन भारत का सांस्कृतिक अध्ययन चुना--'इंडिया, एज नोन टू पाणिनि'। यह कार्य उन्होंने इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ0 राधा कुमुद मुकर्जी के निर्देशन में किया। पीएच0 डी0 कर चुकने के पश्चात् डी0 लिट्0 के लिए भी उन्होंने इसी विषय का विशद् अध्ययन चुना।

अष्टाध्यायी महर्षि पाणिनि की कालजयी कृति है। पतंजलि के समय भी पाणिनि को व्याकरण का सबसे प्रामाणिक आचार्य माना जाता था, उनकी यह कीर्ति अक्षुण्ण रही। पाणिनि गंधार देश में शलातुर ग्राम के निवासी थे। चीन के महापर्यटक श्यूआन चुआङ् (हुएनत्सांग) अपनी भारत-यात्रा के समय (सातवीं शताब्दी ईसवी) शलातुर भी गए थे। उन्होंने वहाँ महर्षि पाणिनि की एक प्रस्तर-प्रतिमा प्रतिष्ठित देखी थी।

अष्टाध्यायी पर किए गए ऐसे क्रमपूर्ण शोध-कार्य ने अग्रवाल जी को ख्याति ही प्रदान नहीं की अपितु उन्हें 'भारत-विद्या' (इंडोलॉजी) के क्षेत्र में प्रतिष्ठित भी कर दिया 'पाणिनि' के प्रति उनके मन में एक गहरा आदरभाव

था। उनकी यह भावना, उनक निबन्ध-संग्रह 'कला और सस्कृति' क लख 'पाणिनि' क एक-एक शब्द म व्यक्त होती है। अष्टाध्यायी, मे आठ अध्याय हे, इसीलिए इसे अष्टाध्यायी कहा गया हे। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे 3995 सूत्र है। यह सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त है और इनमें गागर मे सागर भरा गया हे। व्याकरण के छात्र इन सूत्रों को कंठस्थ कर लिया करते थे। अग्रवाल जी का उद्देश्य अध्येताओ के लिए सूत्रों क गर्भितार्थ प्रकट करना था। अध्येता भारतीय इतिहास और संस्कृति मे विशेष रुचि रखते है, उनक लिए भी यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है।

अपन मूल अग्रजी शोध-ग्रन्थ 'इडिया एज नोन टू पाणिनि' का हिन्दी-करण स्वय अग्रवाल जी ने ही किया। उनके प्रिय शिष्य डॉ0 राय आनन्द कृष्ण ने लिखा है--

''वे (अग्रवाल जी) हिन्दी मे लिखने के पक्षपाती थे। उन्होंने हिन्दी के भण्डार को कितने ही रत्न दिए और आगे भी देते। उनका अधिकांश सृजन हिन्दी मे ही हुआ। उनका मूल शाध-ग्रन्थ जब अंग्रेजी मे छपा, तब वे कुछ बेचैन से थे। हिन्दी भाषी पाठक के लिए उसका सुलभ हाना, व अपने कार्य का अंग मानते थे। उन्होंने अपने निजी व्यय पर कम मूल्य में उसका हिन्दी सस्करण निकाला तभी उन्हे सतोष हुआ।''

डॉ0 वासुदेवशरण जी अग्रवाल के ज्येष्ठ पुत्र श्री स्कंद कुमार ने उन्हें 'शब्दों का आचार्य' कहा है। व्यक्ति की भाँति प्रत्येक शब्द का भी अपना एक व्यक्तित्व होता हे। उसकी अपनी एक छवि होती है इसीलिए कोई शब्द किसी दूसर तक का शतप्रतिशत अर्थ में पर्यायवाची नहीं होता, जो भाषा जितनी समृद्ध होती है, उसमें शब्द की उतनी ही छवियाँ होती है।

एक बार अग्रवाल जी ने मुझे सलाह दी थी कि मै हिन्दी में ही लिखूँ क्योंकि मेरे सोचने की प्रक्रिया हिन्दी में चलती है। डॉ0 अग्रवाल का हिन्दी, संस्कृत और अग्रेजी तीनों भाषाओ पर समान अधिकार था। हिन्दी और अंग्रेजी के उनके लेखन से तो हम सभी पाठक भली-भाँति परिचित है परन्तु जिन्होंने 'रामनगर, वाराणसी' मे प्रकाशित उनके लेखों--'पुराण विद्या', 'पद्मिनी विद्या' तथा 'हिरण्यगर्भ' आदि को देखा है, वे उनकी प्रांजल देव-भाषा पर मुग्ध हुए बिना न रहेंगे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके सम्बन्ध मे लिखा है--

''वे शब्दो क इतिहास के धनी थे। जीवन के प्रत्यक क्षेत्र से उन्होंने सहस्रों अर्थ-प्रसू शब्दो का सग्रह किया था। शब्दो क प्रति उनका अपूर्व अनुराग था। लोक-भाषा के शब्दों को पाकर उन्हे जैसे निधि मिल जाती थी।''

अग्रवाल जी के अध्ययन और लेखन का क्षेत्र अत्यधिक विस्तीर्ण था। वैदिक वाङ्मय, पुराण साहित्य, महाकाव्य, इतिहास, पुरातत्व, कला और सग्रहालय-विज्ञान-मुद्रा-शास्त्र कौन सा ऐसा विषय था जिसमें उनकी गहरी पैठ न हो? उन सबके अपने पारिभाषिक शब्द थे। जब तक वे शब्द स पूरी तरह

परिचित न हो जाते तब तक उनका प्रयोग नहीं करते थे। किस अंग्रेजी शब्द के लिए कौन सा हिन्दी शब्द सबसे अधिक उपयुक्त है उन्हें इसकी चिंता भी रहती थी, क्योंकि वे यह जानते थे कि स्वाधीन भारत में जो शोध कार्य या लेखन होना है वह उसकी राष्ट्रभाषा के माध्यम से ही होना है। कला के पारिभाषिक शब्दों की एक ऐसी ही सूची हिन्दी शब्दों के साथ उन्होंने 'जनरल ऑफ इंडियन म्युजियम' में प्रकाशित कराई थी। बाद में उसका समावेश उनके अंग्रेजी के कला-निबन्ध संग्रह 'स्टडीज़ ऑफ इंडियन आर्ट' में भी हुआ। भारतीय कला के अध्येताओं के लिए डॉ0 अग्रवाल की यह एक अति मूल्यवान् देन है।

हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य के प्रति वे बड़े आश्वस्त थे। उन्होंने लिखा है--"हिन्दी का क्षेत्र विशाल हो रहा है। हिन्दी को अपने ही देश में अन्य भाषाओं और प्रान्तों के साथ अपना सम्बन्ध विकसित करना है और विदेशों के साथ भी अन्तरंग परिचय प्राप्त करना है। मैं इस दृष्टिकोण को प्राचीन अथर्ववेदीय सांस्कृतिक परिभाषा में 'चातुर्दिश दृष्टिकोण' ही कहूँगा।"

वे यह भी चाहते थे कि हिन्दी की प्रमुख बोलियों, भोजपुरी, अवधी, ब्रज बुन्देलखण्डी आदि के अलग-अलग कोश तैयार किए जाएँ और फिर उन सबके आधार पर उन सबमें शब्दों का चुनाव करके साहित्यिक हिन्दी के लिए एक बड़े कोश की रचना की जाय।

हिन्दी के सम्बन्ध में उन्होंने अपने एक पत्र में डॉ0 रामस्वरूप आर्य को लिखा--"मातृभाषा हिन्दी की जो स्वल्प सेवा हुई है, इसके लिए हिन्दी-जगत् निरन्तर मेरा अभिनन्दन कर रहा है। इसका अनुमान मुझे उन पत्रों के रूप में प्राप्त होता रहता है, जो प्रेमी पाठक मुझको लिखते हैं।.. ..हिन्दी से जो मैंने पाया है वह कुबेर का भण्डार है और उससे आत्म तृप्त हूँ। श्री कुमार स्वामी के समान मेरी अभिलाषा उस अकिंचनत्व में जाने की है जहाँ इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

डॉ0 वासुदेवशरण जी ने पं0 बनारसीदास जी चतुर्वेदी को बहुत से पत्र लिखे। उनमें से एक अंतरंग पत्र में उन्होंने लिखा है--

"यहाँ पर मैं कह दूँ कि मेरा मन कुछ ऐसा है कि उसे बहुत से विषयों में रुचि होती चली गई, जैसे किसी घर में बहुत से द्वार खिड़कियाँ हों। ऐसा ही कुछ मेरा मन है। उसमें पचासों विषय भरे हुए हैं। वह मेरा अक्षय भंडार है।"

डॉ0 आनन्द कैन्टिश कुमारस्वामी प्राच्य-विद्या (इंडोलॉजी) के शीर्षस्थ विद्वान् लेखक माने जाते हैं। उनके ग्रन्थों और निबन्धों की संख्या उनके पुत्र डॉ0 राम कुमारस्वामी की सूची के अनुसार छः सौ से अधिक है, साहित्य दर्शन, कला संस्कृति और पुरातत्व? उन्होने किस विषय पर नहीं लिखा? इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली के लिए डॉ0 वासुदेवशरण जी के ग्रंथों और निबन्धो की तालिका (बिब्लोग्राफी) तैयार करते हुए मुझे यह लगा कि उनकी लिखी समग्री भी सबसे कम नही होगी, यद्यपि अनेक अखबारों मे प्रकाशित बिखरी हुई सामग्री

का खोज नहीं पाया है। डॉ0 अग्रवाल की कृतियों में वेद, पुराण (पुराणों के सांस्कृतिक अध्ययन), श्रीमद् भागवत् गीता, महाभारत का सांस्कृतिक अध्ययन भारत-सावित्री, कला का इतिहास, पुरातत्व-संग्रहालय विज्ञान, मेघदूत, हर्षचरित, कादम्बरी के सांस्कृतिक अध्ययन तथा जायसी के पद्मावत की सजीवनी टीका मुख्य रूप से उल्लेख्य हैं।

वासुदेवशरण जी का जन्म मेरठ के खेड़े नामक गाँव में सन् 1904 में हुआ। उनके पितामह अधिक पढे लिखे तो न थे किन्तु जमींदारी का उन्हें अनुभव था। जरूरतमन्दों का वे उनकी आवश्यकतानुसार सहायता करते थे। प्राथमिक कक्षाओं में कुछ वर्ष पढ़ कर सन् 1912 में वासुदेवशरण जी लखनऊ आ गए और बी0 ए0 तक उनका अध्ययन लखनऊ में ही चला, एम0 ए0 उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में किया। अपने पिता जी के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है, "हमारे देश में जितनी विद्या कोई पा सकता है, वह सब मेरे पिताजी ने मेरे लिए सुलभ कर दी। हाई स्कूल, इण्टर, बी0 ए0, एम0 ए0, पी एच0 डी0, डी0 लिट्0 तक की सीढियाँ मैंने पार कर ली। सन् 1933 में अर्थात् 29 वर्ष की आयु में मथुरा संग्रहालय में अध्यक्ष पद पर आ गए। उसके बाद उन्होने गंगा, भागलपुर के पुरातत्व अंक में मथुरा संग्रहालय के इतिहास तथा उसके मूर्ति-शिल्प पर अपना लेख लिखा। मथुरा का संग्रहालय कुषाण और गुप्त काल की प्रस्तर-प्रतिमाओं का महत्वपूर्ण संग्रह-केन्द्र है। भारतीय कला और पुरातत्व के सुप्रख्यात् विद्वान श्रीयुत जे0 पी0 एच0 वोगल मथुरा संग्रहालय के अध्यक्ष रह चुके थे। अग्रवाल जी ने उनकी सूची को वर्गीकृत करके कैटलॉगों का स्वरूप दिया और संग्रहालय की बीथिकाओं को व्यवस्थित किया। सन् 1940 में अग्रवाल जी लखनऊ संग्रहालय के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उन्होंने इस संग्रहालय की मूर्तियों का भी विवरण ग्रन्थ (कैटलॉग) तैयार किया।

वासुदेवशरण जी ने जिस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी का लगातार बारह वर्ष तक अध्ययन, चिन्तन और मनन किया, उसी प्रकार उन्होंने भारतीय कला के विभिन्न अंगों पर पूर्ण मनोयोगपूर्वक चिंतन किया। वे सच्चे अर्थ में तपस्वी थे। सन् 1946 में वे नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय के अध्यक्ष पद पर नियुक्त होकर दिल्ली गए और वहाँ छः वर्ष कार्य करने के पश्चात् सन् 1952 में वे नाममात्र के वेतन पर कला-विभाग के अध्यक्ष के रूप में कालेज ऑफ इंडोलॉजी में, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में आ गए। दिल्ली का अति-व्यस्त जीवन उन्हें रुचिकर न लगा। उसके पश्चात् वे अन्तिम समय तक, सन् 1966 तक विश्वनाथ जी की पवित्रपुरी काशी में ही रहे।

जैसा कि स्वाभाविक है, वर्षों के कठोर साधना के पश्चात् उनको दृढ विश्वास हो चुका था कि भारतीय कला पर उनके जो निष्कर्ष हैं, वे सत्य के अत्यधिक निकट हैं, "जो दृष्टिकोण मेरी समझ में आया, वही ठीक है। पश्चिम

के सब विद्वानों [illegible] इस विषय पर [illegible] डॉ0 अग्रवाल का अत्यन्त महत्वपूर्ण [illegible] इण्डियन आर्ट [illegible] जिसके, उन्होंने स्वयं भारतीय कला के नाम से हिन्दी में रूपान्तर किया है, इस ग्रन्थ में प्रथम बार भारतीय दृष्टिकोण से भारतीय कलाओं का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। उनका विचार सम्पूर्ण भारतीय कला का इतिहास लिखने का था। यदि यह कार्य पूर्ण हो गया होता तो निश्चय ही एक बड़े अभाव की पूर्ति होती। यह प्रथम खण्ड प्राक् ऐतिहासिक काल से लेकर तृतीय शताब्दी ईसवी तक का है। इस ग्रंथ में पहली बार वैदिक प्रतीकों और अभिप्रायों के सम्बन्ध में गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। डॉ0 वासुदेवशरण जी भारतीय प्रतीकों और कथाओं का मूल स्रोत वैदिक वाङ्मय में ही मानते थे। डॉ0 कुमारस्वामी का भी यही मत था।

गुप्त काल जिसे इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास के स्वर्ण-काल की संज्ञा दी है, अग्रवाल जी का सर्वाधिक प्रिय था। इस काल की चित्र-कला, मूर्तिकला और मृण्मय मूर्तियों पर उनका ग्रन्थ 'गुप्ता आर्ट' है। पहले यह ग्रन्थ एक छोटी पुस्तक के रूप में यू0 पी0 हिस्टोरिकल सोसाइटी लखनऊ से प्रकाशित हुआ था।[1] तत्पश्चात अग्रवाल जी के सुयोग्य पुत्र डॉ0 पृथ्वी कुमार जी ने सम्पादित करके परिवर्द्धित रूप में प्रकाशित किया। डॉ0 वासुदेवशरण जी यू0 पी0 हिस्टोरिकल सोसायटी, लखनऊ के जन्मदाताओं में से हैं। इसका मुख-पत्र अब दुर्लभ हो चुका है। डॉ0 वासुदेव शरण जी के अनेक लेख 'मथुरा टैराकोटाज', 'अर्ली ब्राह्मण रिलीफ फ्रॉम मथुरा', 'इंडिया रिप्रजन्टेड ऑन ए सिल्वर डिश फ्राम, लैम्पसकस' आदि सर्व प्रथम इस कला पत्रिका में छपे। 'मथुरा की मृण्मय-मूर्तियों का ऐसा विषद् अध्ययन इससे पूर्व किसी विद्वान ने नहीं किया था। इन मूर्तियों में लोक कला मुखरित हुई है।। 'राजघाट को मृण्मय मूर्तियों' पर उनका अध्ययन 'कला और संस्कृति' (इलाहाबाद) में और 'अहिच्छत्राकी मृण्मय-मूर्तियों' पर उनका सर्वाङ्गीण लेख भारतीय पुरातत्त्व-सर्वेक्षण, नई दिल्ली की मुख-पत्रिका 'एन्शियन्ट इंडिया' के खण्ड 4 में प्रकाशित हुआ। यह कार्य बंजर भूमि में तोड़ने जैसा कार्य था। 'मथुरा टैराकोटाज' में उन्होंने मथुरा के कुषाण काल और गुप्त काल से बहुत पहले भी प्राक्-एतिहासिक काल की मातृ देवी की मृण्मय-मूर्तियों तथा मौर्ययुगीन मृण्मय-मूर्तियों का भी विवेचन किया है। राजघाट (वाराणसी) की मृण्मय-मूर्तियों में नारी मुखों की विविध प्रकार की केश-सज्जा तत्कालीन स्त्रियों की सौन्दर्य-प्रियता की साक्षी है। अहिच्छत्रा में डॉ0 अग्रवाल का शिव और उमा के मस्तक भाग जैसी कृतियाँ प्राप्त हुई जो भारतीय कला की उज्ज्वल मणियाँ कही जा सकती है। पार्वती के सिर का जूड़ा जिसे 'धम्मिल' कहा गया

---

1. गुप्ता आर्ट, यू0 पी0 हिस्टोरिकल सोसाइटी, लखनऊ, के जर्नल में भी प्रकाशित हुआ। वर्ष 18, खण्ड 1 तथा 2।

ह प्राचीन भारतीय केश सज्जा का एक अदभुत नमूना है। अहिच्छत्रा के शिव और पार्वती के मस्तक पाचवीं शताब्दी ईसवी के हैं। उनके भारतीय कला-सम्बन्धी निबन्ध उनके एक लेख संग्रह 'कला और संस्कृति' में प्रकाशित हुए है। भारतीय कला के प्रत्येक अध्येता के लिए यह संकलन अनिवार्य है किन्तु खेद है कि अब यह दुर्लभ और अप्राप्य हो चुका है। बहुत खोजने पर भी जब यह किसी मूल्य पर मुझे नहीं मिला तब मुझे पूरी पुस्तक 'साहित्य-अकादमी--नई दिल्ली' के ग्रंथागार से लेकर 'फोटो स्टेट' करानी पड़ी। डॉ0 अग्रवाल के ग्रन्थों और निबन्धों को खोजने मे मुझे विचित्र अनुभव हुए है उनके दो लेख 'शिव का स्वरूप' और 'मथुरा की मूर्तियाँ और स्तम्भ लेख' कल्याण के शिवांक में सन् 1933 मे प्रकाशित हुए है। अट्ठावन साल पुराना 'शिवांक' कहाँ मिले? मै खोजते-खोजते थक गया पर निराशा ही हाथ लगी। एक दिन अपने गृह नगर में ही एक घर से निकलते समय द्वार के निकट कुछ दीमक लगी पुस्तकें देखीं। उत्सुकतावश उन्हे उठाया तो उनमे 'शिवांक' भी था। इस परिवार से ही मुझे अग्रवाल जी का एक पत्र भी मिला, जो वेद विद्या की कक्षाओं के बारे मे था।

'कला और संस्कृति' उनके भारतीय कला से सम्बन्धित विविध प्रकार के लेखों का संकलन है। कलागुरु श्री अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, आचार्य श्री नन्दलाल बोस तथा श्रीयुत यामिनी राय के भाव भीने सस्मरण जहाँ आँखो को भिगो देते है वही इन महान् कला साधकों के आगे मस्तक स्वयं ही श्रद्धा से झुक जाता है। 'भारतीय कला का अनुशीलन' और 'भारतीय कला के सिहावलोकन' के जोड के लेख समस्त हिन्दी साहित्य में अन्यत्र न मिलेगे। इनमें से भारतीय कला का अनुशीलन भारत कला-भवन, वाराणसी की मुख पत्रिका 'कला-निधि' के प्रथमांक में प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह के एक लेख मे डॉ0 अग्रवाल ने डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी को अपनी श्रद्धांजलि देते हुए लिखा है--

"सन् 1917 से 47 तक लगातार तीस वर्षों तक डॉ0 कुमारस्वामी बोस्टन के संग्रहालय मे कला-सामग्री को प्राणों की आहुति डालकर सजीवनी मूरि की तरह रक्षा करते रहे, भारतीय कला को देवता कल्पित करके वे उसकी आराधना मे तल्लीन हो गए। उस कला के अनुकूल वातावरण में उन्होंने अपने पूर्ण विकास के लिए आदर्श संतुलित स्थिति प्राप्त कर ली थी, जिसमें वे जीवन-भर न डिगे।" डॉ0 वासुदेवशरण जी ने आचार्य श्री अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, तथा उनके प्रमुख शिष्य श्री नन्दलाल बोस के जीवनकाल में शांति-निकेतन की यात्रा की थी और वे कलकत्ता जाकर श्री जैमिनी राय से भी मिले थे। उन्होंने महान् व्यक्तियों से मिलकर और उनके कष्ट का अनुभव करके जो शब्द लिखे हैं, उन्हे ज्यो-का त्यों उद्धृत करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। देश की महान् कलाओं की यह उपेक्षा हमारे कलुषित हृदय का दर्पण है। नए रईसों की 'नव-संस्कृति' ने तो आज हालत और भी अधिक बिगाड दी है।

श्री अवनीन्द्र नाथ टाकुर भारत के महान चित्रकार थे। वे नूतन भारतीय कला संस्कृति के सच्चे अर्थों में पिता हैं। उनके चित्रों में कला का जो रूप स्फुरित हुआ था, आज हम उसी के विकसित शरीर की कुछ झांकी देख रहे हैं। वे नव भारतीय कला के आद्य ऋषि हैं। अस्सी वर्ष की आयु का भार लिए हुए, आज भी वे हमारे मध्य हैं पर हमने उन्हें जीते जी भुला दिया है।

चित्राचार्यों की इस त्रिमूर्ति से मिलकर मैं हृदय की व्यथा लिए ही लौटा। हमारे ऊपर इन व्यक्तियों का जो ऋण है, हमने उससे उऋण होने का राष्ट्रीय दृष्टि से क्या कोई प्रयत्न अब तक किया है? उनका सम्मान और अभिनन्दन तो दूर रहा, उनके चित्रों की रक्षा भी हम न कर सके और न सर्वश्रेष्ठ कृतियों को उचित रूप से प्रकाशित करने का ही कोई उपक्रम अब तक हुआ। नन्द बाबू 68 वर्ष यामिनी राय 75 वर्ष और अवनी बाबू 80 वर्ष पूरे कर चुके। अवनीन्द्र नाथ के चित्र रद्दी के पर्चों की तरह संग्रहो में बिखरे हुए हैं। न उनका लेखा- जोखा है, न प्रकाशन और न राष्ट्रीय चित्रशाला में उन्हें ले आने का कोई उपाय। हमारी उपेक्षा-वृत्ति सर्वोत्तम चित्र-सम्पत्ति को ग्रस चुकी है। सुन्दर से सुन्दर चित्र अंधेरे मे मुँह छिपाये पड़े हैं।''

नई दिल्ली की 'नवकला वीथिका' (गैलरी ऑफ माडर्न आर्ट) ने श्री नन्दलाल बोस का संग्रह अपने यहाँ लाकर एक स्तुत्य कार्य किया है। डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल के इस संकलन 'कला और संस्कृति' में 'बोधिसत्व, 'मध्य कालीन शास्त्र' 'राजघाट के खिलौनो का अध्ययन' और 'कल्पवृक्ष' आदि स्थायी महत्व के लेख है। डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल एक बार दतिया गए थे वहाँ उन्होने मध्य कालीन अस्त्र-शस्त्र देखे। डॉ0 अग्रवाल ने उन शस्त्रों के नाम दिये हैं जो अब लुप्त होते जा रहे हैं। डॉ0 अग्रवाल की दृष्टि में मानव-मन ही वह कल्पवृक्ष है जहाँ विचारों के फूल फूलते हैं। जिस प्रकार कल्पवृक्ष के लिए संसार मे कुछ भी अदेय नही है, उसी प्रकार दृढ़ संकल्पशील व्यक्ति संसार की किसी भी वस्तु को पा सकता है। 'कटाह द्वीप की समुद्र यात्रा' में दक्षिण के पूर्व एशिया के द्वीप-समूह की चर्चा की है। उन्होने यव 'द्वीप' जावा, सुवर्ण द्वीप सुमात्रा मलयद्वीप, मलयप्रायद्वीप, बलिद्वीप, बाली, और वारुणिद्वीप बोरनियो निश्चित किए हैं।

आचार्य श्री का दूसरा महत्वपूर्ण निबन्ध संग्रह 'माता- भूमि' है जिसमे प्रायः राष्ट्रीय विचार-धारा के लेख हैं, जैसे राष्ट्र का धर्म-शरीर, एशिया और भारत, और गाँधी पुण्य स्तम्भ आदि किन्तु चक्रध्वज, मुगल चित्रकला, राजस्थानी चित्रकला और पहाड़ी चित्रकला पर भी छोटे-छोटे सारगर्भित लेख दिए गए हे जिनमें इन चित्र शैलियों की लाक्षणिकताओ और विशेषताओं की चर्चा की गई है। 'भारतीय ललित कला की परम्पराएँ' निश्चित ही एक बहुत ही सुन्दर लेख है मुगल चित्र कला के में डॉ0 ने लिखा है मुगलो की

चित्रशैली ने लगभग 300 वर्ष तक बहुत ही तगड़ा निर्माण का कार्य किया लकिन राजदरबार और राजमहल के जीवन को चित्रित करने में ही मुगल शैली की उमर बीत गई। इस चित्र शैली में रगो की बारीकी, चुनाव की होशियारी, सफाई और सजावट तो खूब थी लकिन उसमे हाथ-पैर कुछ जकड़े हुए थे। चित्रो मे हृदय की तड़प नही दिखलाई देती है। दरबारों की शान-शौकत चित्रकला को जनता के जीवन के साथ न मिला सकी।''

'माता-भूमि' हैदराबाद के चेतना-प्रकाशन ने संवत् 2010 वि0 मे प्रकाशित की थी। यह डॉ0 अग्रवाल के लखों का प्रतिनिधि सग्रह है जो कि अब पूरी तरह अलभ्य हो चुका है।

'वाग्धारा' डॉ0 अग्रवाल का अन्य लेख संग्रह है, जिसे देश की प्रतिष्ठित प्रकाशन संस्था 'ज्ञानपीठ प्रकाशन' ने प्रकाशित किया था। इसके लेख मुख्यत· भारतीय सस्कृति पर आधारित है--जैसे भारतीय सस्कृति, सनातन धर्म, सत्य नारायण की ब्रत कथा, भारतीय धर्म तत्व आदि लेकिन 'महेश मूर्तियाँ' मे मूर्तिकला में शिव के विविध रूपों की चर्चा की गई है। इसके एक अन्य लख 'मातृभूमि' में देश क प्रत्येक खण्ड का जो सांस्कृतिक और भौगोलिक वर्णन ह वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसा भावभीना वर्णन कि भारत माता नेत्रो के समक्ष आकार खडी हो जाती है। ऐसे लेख, देश के विद्यार्थियो की दृष्टि से छूट जाये और अप्राप्य हो जायें इसे देश का दुर्भाग्य नहीं तो क्या कहा जाय?

'कल्पवृक्ष', 'वेद रश्मि', उरु ज्योति आदि डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल क अन्य बिन्ध सग्रह है, जिनमे उनक ज्ञान का सरोवर हिलोरे ले रहा है, लेकिन वे सब अप्राप्य हो चुके हैं। एक बार भोपाल मे अपने प्रिय मित्र श्री अम्बा प्रसाद श्रीवास्तव (विंध्य भूमि तथा मध्य प्रदेश संदेश के पूर्व सम्पादक) से इस सम्बन्ध मे चर्चा हो रही थी। उनको भी इस बात का दु:ख था कि डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल के राष्ट्रीय महत्व के यह सग्रह अलभ्य क्यों होते जा रहे हैं? अब तो वे दुर्लभ हो चुके हैं।

हिन्दी में जनपदीय अध्ययन पर एक आदोलन चला था। इस ज्ञान-यज्ञ के प्रमुख पुरोधा थे, पं0 बनारसीदास जी चतुर्वेदी। जनपदीय साहित्य और संस्कृति के अध्ययन व लेखन के लिए उन्होंने काफी दिनो तक टीकमगढ (मध्य प्रदेश) से 'मधुकर' नामक पत्र प्रकाशित किया था। उन्ही दिनो डॉ0 वासुदेवशरण जी ने एक अद्भुत पुस्तक लिखी 'पृथिवी पुत्र'। चतुर्वेदी जी ने लिखा है कि जनपदो मे जाकर लोक कल्याण के लिए कार्य करन वाले को यह पुस्तक 'पाठ्य-पुस्तक' की तरह पढ़नी चाहिये। यह पुस्तक भी अब अलभ्य हो चुकी है। इस पुस्तक की खोज मे मै आगरा गया और उसके द्वितीय संस्करण के प्रकाशक राम प्रसाद एण्ड सन्स से मिला तो उन्होंने कहा कि सन् 1960 मे प्रकाशित यह पुस्तक गत् 20 वर्ष स 'out of print' हो चुकी है फिर यह मुझे श्री ओंकार स्वरूप चतुर्वेदी के निजी

सकलन स उपलब्ध हुए. इस पुस्तक का स्वय लेखक न 'भूमि' जन और संस्कृति के घनिष्ठ सम्बन्ध की व्याख्या करने वाले लेखों का संग्रह कहा है। डॉ0 अग्रवाल ने अपनी 'भूमिका' में कहा है।

''पृथिवी को मातृभूमि और अपने आपको उसका पुत्र समझने का अर्थ बहुत गहरा है। यह एक दीक्षा है, जिसमें नया मन प्राप्त होता है। पृथिवी पुत्र का मन मानव के लिए ही नहीं, पृथिवी से सम्बन्धित छोटे से तृण के लिए भी प्रेम से मन खुल जाता है। ''पृथिवी पुत्र की भावना मन को उदार बनाती है।... .पृथिवी पुत्र धर्म का ही दूसरा नाम जनपदीय दृष्टिकोण है।''

यही तो महायान के आदर्श 'बोधिसत्व' की उदात्त भावना है। वह तब तक स्वयं अपना भी निर्वाण नहीं चाहता जब तक कि धरती का छोटा से छोटा जीवन भी दुःख से मुक्ति नहीं हो जाता। 'पृथिवी पुत्र' में अथर्ववेद के पृथिवी सूत के अध्ययन के साथ 'जनपदों का साहित्यक अध्ययन, लोकोक्ति साहित्य का महत्व आदि महत्वपूर्ण लेख दिए गए हैं। परिशिष्ट में 'लोक कहानी', गढ़वाली लोक-कथाएँ, निमाड़ी लोक-गीत, गढ़वाली लोकगीत और गुजराती लोक-गीत आदि लेख संग्रहीत किए गए हैं। वस्तुत: यह कुछ पुस्तकों के लिए लिखी गई, अग्रवाल जी की 'भूमिकाएँ' हैं। परिशिष्ट में ही 'ग्रामोद्योग शब्दावली' और 'शब्दावली' देकर एक उपकार किया है।

डॉ0 अग्रवाल का 'वैदिक लेक्चर्स' पृथिवी प्रकाशन वाराणसी द्वारा प्रकाशित उनके अंग्रेजी भाषणों का संकलन है। इसमें उनके 'वट सावित्री' अग्नि-विद्या, सोम विद्या, पुरुष-सूक्त, प्रजापति और यज्ञ विद्या आदि ग्यारह व्याख्यान सुसम्पादित लेख रूप में दिए गए हैं। डॉ0 अग्रवाल का इसी विषय का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ है--'स्पार्कस ऑफ वैदिक फायर'। डॉ0 आनन्द कुमारस्वामी की भाँति डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल भी वेदों तथा उपनिषदों के गम्भीर मनन और चिंतन में डूब चुके थे और जैसा कि महाकवि बिहारी ने कहा है 'अनबूड़े बूड़े तरे जो बूडे सब अंग।'

डॉ0 वासुदेवशरण जी अग्रवाल की हिन्दी की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तक 'भारत की मौलिक एकता' है। डॉ0 अग्रवाल के पूज्य गुरु डॉ0 राधाकुमुद मुकर्जी ने भी इसी विषय पर एक पुस्तक लिखी थी, 'दि फन्डामेन्टल यूनिटी ऑफ इंडिया' जो भारतीय विद्या भवन, बम्बई से प्रकाशित हुई थी। इस विषय पर इन दो पुस्तकों के अलावा अन्य किसी पुस्तक की मुझे जानकारी नही है। विदेशी लेखकों तथा इतिहासकारों ने भारत को भाँति-भाँति के फूलों से सजा हुआ एक गुलदस्ता कहा है। डॉ0 अग्रवाल ने अपनी अकाट्य युक्तियों से इस देश की मौलिक एकता के आधार की पुष्टि की है। उन्होंने लिखा है--भारतीय जन की देश व्यापी संस्कृति के अनेक रूपों में भेद की अपेक्षा साम्य अधिक है। उनमे एसी एकता हैं जिसके कारण भारतीय संस्कृति संसार की अन्य संस्कृतियों से

अलग पहचानी जाती है। भारतीय धर्म, साहित्य, लिपि, कला, वेश, पर्व उत्सव आदि जीवन के प्रत्येक अंग पर उसकी विशिष्ट छाप है। जो उसके स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व को व्यक्त करती है। उनके कथनानुसार समग्र भारत प्राचीन काल में एक रहा है। उसकी सारी लिपियों की मूल ब्राह्मी है, देश की सांस्कृतिक एकता की सबसे पुष्कल अभिव्यक्ति भारतीय साहित्य में पाई जाती है। रामायण, महाभारत, गीता, वेदान्त सूत्र, वेद और पुराण सभी तो इस सांस्कृतिक एकता के साक्षी हैं। पुस्तक के अध्यायों में 'देश के नामकरण,' भूमि-परिचय, पृथिवी सूक्त, तीर्थ और पुण्य-क्षेत्र तथा भाषा और साहित्य आदि है।

भारत में विभिन्न भू खण्डों में विष्णु धर्मोत्तरम्, रूप-मडन तथा अन्य शिल्प-शास्त्र के ग्रंथों का प्रणयन हुआ किन्तु किसी भी प्रदेश मे किसी भी शैली मे उत्कीर्ण आराध्य-प्रतिमा पर दृष्टि डालें तो उसके मूर्ति लक्षण एक ही मिलेगे।

डॉ0 वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने वास्तु, मूर्ति-शिल्प, चित्रकला, सस्कृत साहित्य, इतिहास, पुरातत्व और वैदिक अध्ययन किस विधा पर उच्च स्तरीय साहित्य नहीं दिया? उनके ग्रथों में संग्रहालय विद्या (म्युजियोलॉजी) सम्बन्धी लेख मिलेंगे। मथुरा संग्रहालय के विकास में उनका विशेष योगदान रहा है और राष्ट्रीय सग्रहालय नई दिल्ली के तो वे निर्माताओ में, प्रारम्भ कर्त्ताओ में ही थे। जनरल ऑफ इडियन म्यूजियम, नई दिल्ली की फाइलें उनके लेखो से भरी पड़ी है। एन्शिएन्ट इडिया, नई दिल्ली, रूपलेखा (कला त्रैमासिक) नई दिल्ली; ललित कला नई दिल्ली, मार्ग, बम्बई, जनरल ऑफ ओरिएन्टल आर्ट, कलकत्ता, कला-निधि वाराणसी आदि में उनके लेख स्थायी साहित्य की निधि बन चुके है। देश या विदेश के किस पत्र में उनका कौन सा लेख, कब प्रकाशित हुआ, यह जानना अपने आप में एक बहुत बडा काम है, देश का कौन सा ऐसा प्रतिष्ठित पत्र है जो उनकी लेखनी के प्रसाद से वंचित रह गया हो?

उन्होंने कई अभिनन्दन ग्रथों का संपादन किया। उनके सम्पादकत्व मे प्रकाशित 'पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ' तो मानो ब्रज के साहित्य और कला और पुरातत्त्व का विश्वकोश है, जिसमे उनके निज के लेख, 'मथुरा कला' 'श्रीकृष्ण का लीला वपु', 'श्रीकृष्ण जन्म-भूमि या कटरा केशवदेव', गीता-ज्ञान, सोलहवी शताब्दी में सगुण भक्ति के मेघ जल, आदि प्रकाशित हुए हैं। श्री वासुदेव शरण जी के निकट 'गीता न केवल योगी के लिए है, न संसार छोड़कर वैराग्य साधने वालों के लिए है, न कर्मकाण्ड में रुचि रखने वालो के लिए है और न नाम जपने वाले भक्तों के लिए है, वह इन सबके लिए एवं इनसे भी अधिक उन सब मानवो के लिए है जो जीवन के पथ पर कही न कही चल रहे है।'' मथुरा का कटरा केशवदेव ही परम्परा से भगवान् श्रीकृष्ण की जन्मभूमि माना जाता रहा है। श्रीयुत ग्राउस साहब का भी यही मत था। वही प्रख्यात जैन स्तूप था और वही बौद्धों के

व विहार भी थ, जिनका उल्लेख चीन के .... फाहियान और हुएनतसांग ने किया है। वहीं स जैन बौद्ध और हिन्दू आराध्यों की कई मूर्तियाँ मिली हैं जो मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित हैं। सरस्वती की सबसे प्राचीन जैन प्रतिमा भी वहीं स मिली है।

डॉ0 कुमारस्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ 'आर्ट एण्ड थॉट' लन्दन में डॉ0 वासुदेव शरण जी अग्रवाल का लेख 'दि गुप्ता टेम्पल ऑफ देवगढ' प्रकाशित हुआ। उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले में बेतवा नदी के तट पर यह भव्य देवालय स्थित है और अपनी प्रस्तर-शिल्प कृतियों के लिए विश्व प्रख्यात् है। उनमें नर-नारायण का अंकन शेषशायी विष्णु तथा गजेन्द्र उद्धार के विशाल शिला-चित्रों के अतिरिक्त रामायण तथा श्रीमद् भागवत में कृष्णलीला सम्बन्धी मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण की गई हैं। डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल ने उसके प्रवेश द्वार का जिसमें दोनों ओर कच्छप वाहिनी यमुना और मकर वाहिनी गंगा प्रदर्शित की गई हैं, विस्तार के साथ वर्णन किया। उसकी शिल्प-समृद्धि के अलावा डॉ0 अग्रवाल ने इस मन्दिर के रथिका-बिम्ब, जगती पीठ, राम कथा के दृश्य, श्री कृष्ण सम्बन्धी दृश्यो और शिला-लेखों की चर्चा की है साथ ही गुप्त काल के वास्तु की लाक्षणिकता पर भी प्रकाश डाला है।

विक्रम स्मृति ग्रन्थ, ग्वालियर में डॉ0 अग्रवाल का पांडित्यपूर्ण लेख 'मेघदूत-कामरूप पुरूष' प्रकाशित हुआ। वस्तुतः शिव क्या हैं? उनका वाहन वृष क्या है और मेघ क्या है? महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत में आध्यात्मिक तत्वों को किस प्रकार कलात्मक स्वरूप दिया, इसका वर्णन डॉ0 अग्रवाल ने प्रांजल भाषा और काव्यात्मक शैली में किया है। उनकी अपनी शैली है।

श्री सुरतिमणि नारायण त्रिपाठी अभिनन्दन-ग्रन्थ में उनका लेख 'भरहुत कला की धर्म-भावना' तत्कालीन यक्ष-पूजा पर प्रकाश डालता है। भरहुत की कला में जहाँ हमें लोक-जीवन के दृश्य, जातक कथायें दिखलाई देती हैं वहीं कुपुरो जरयो (कुवेर यक्ष) चन्द्रा यक्षी, नागराज चक्रवाक आदि की सम्भ्रान्त नागरिकों जैसी आदमकद मूर्तियाँ भी दर्शन देती हैं। श्री सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ में उन्होंने सम्राट अशोक के लोक-सुखयन धर्म पर प्रकाश डाला है। लेख अशोक के शिला-लेखों पर आधारित है। नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ में उनका प्रसिद्ध लेख माता-भूमि है और राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त अभिनन्दन ग्रंथ में उन्होंने 'राष्ट्रकवि' शीर्षक से गुप्तजी की समस्त काव्य यात्रा पर उनकी कविता के उद्धरण देते हुए प्रकाश डाला है।

डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल ने हिन्दी में एक नई विधा का श्रीगणेश किया। वह थी गौरव-ग्रन्थों के सांस्कृतिक अध्ययन की। उन्होंने न केवल मेघदूत, हर्षचरित, कादम्बरी और मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत् का सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया और पुराण ग्रन्थों को भी इस

परिधि में समेट लिया। उनकी 'भारत सावित्री' महाभारत का सांस्कृतिक अध्ययन ही है। हर्ष चरित और कादम्बरी में तो उन्होंने कला के प्रतीक और अभिप्रायों को भारतीय कला के अजंता जैसे समृद्ध कला मंडप में खोजकर उसके चित्र प्रस्तुत किए हैं।

डॉ0 अग्रवाल मूलतः संस्कृत के विद्वान थे और अष्टाध्यायी उनकी शोध का विषय रहा था अतः शब्द, उसके अर्थ और उसकी भिन्न-भिन्न छवियों से वे पूर्णरूपेण परिचित थे। सच्चे अर्थों में वे एक ऋषि थे, भारतीय कला और संस्कृति को एक पूर्ण रूप से समर्पित ऋषि। अपनी निज की शैली में उनकी प्रवाहपूर्ण अभिव्यक्ति की क्षमता अद्‌भुत थी।

❑❑

डॉ० मोती चन्द्र

डॉ० मोतीचन्द्र

डॉ0 मोतीचन्द्र भारत के कला जगत् की विभूतियों मे से हैं। उन्होंने कभी किसी ऐसे विषय को नहीं छुआ जिस पर उनसे पहले भी किसी कला-समीक्षक अथवा इतिहासकार ने कलम उठाई हो। उन्होंने उस विषय को इतनी पूर्णता के साथ ग्रन्थरूप में उतारा कि आगे कुछ लिखने को शेष न रहा। उनकी 'सार्थवाह', 'प्राचीन भारतीय वेश भूषा' और 'काशी का इतिहास' ऐसी ही कृतियाँ हैं। उन्ही के सग्रहालय से उन्हीं द्वारा सम्पादित 'प्रिंस ऑफ वेल्स म्युजियम' बम्बई के बुलटिन सख्या 6 में भारतीय हाथीदाँत पर उनका एक लेख 'एन्शिएन्ट इंडियन आइवरी' (प्राचीन भारतीय हाथीदाँत) वस्तुतः अपने-आप में सम्पूर्ण, स्वतंत्र ग्रन्थ है। यही बात 'नहरू अभिनन्दन ग्रन्थ' कलकत्ता मे प्रकाशित उनके 'मोनोग्राफ'--'पद्म श्री' के लिए भी कही जा सकती है, जिसमे उन्होंने कमल-दल पर आसीन अथवा पद्म-सरोवर मे खड़ी श्रीदेवी अथवा पद्मश्री या गजो द्वारा अभिषिक्त गज-लक्षी के प्रतीक का प्राचीन भारतीय वाङ्गमय, मूर्तिकला अथवा सिक्कों द्वारा निरूपण किया है। वे अपनी विषय वस्तु का तत्वशोधक की भाँति बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखते थे और अन्य विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए अपने मत का दृढता के साथ प्रतिपादन करते थे। 'स्टडीज इन अर्ली इण्डियन पेन्टिंग' (प्रारम्भिक भारतीय चित्रकला का अध्ययन) उनका अमरिका के पैन्सलवानिया विश्व-विद्यालय मे दिए गए चार व्याख्यानों का संकलन है जो उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर स्मृति व्याख्यान माला के अन्तर्गत अप्रैल सन् 1964 में दिए थे। उनके लेख 'ललित-कला' नई दिल्ली, 'जनरल ऑफ इडियन म्युजियम्स' नई दिल्ली, कल्चरल फारम, नई दिल्ली, कला-निधि, वाराणसी आदि पत्रों मे बिखरे पड़े है। वस्तुतः वे उनकी हिन्दी साहित्य के स्थायी महत्त्व की देन हैं जिनका प्रकाशन स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में होना अति आवश्यक है। वैसी गहरे पानी पैठकर देखने वाली अर्न्तदृष्टि अब कहाँ है?

यह लिखते हुए मन को बहुत पीड़ा होती है कि हिन्दी में अच्छे से अच्छे उत्कृष्ट स्तर के पत्र निकले, 'हिमालय', 'नया साहित्य', 'पारिजात' और 'प्रतीक' लेकिन वे हमारी उपेक्षा के कारण अधिक समय तक चल न सके। डॉ0 मोतीचन्द्र जी का एक लेख "भारतीय साहित्य में जन्मभूमि की कल्पना" इनमे से किस पत्र मे निकला यह आज स्मरण नहीं है लेकिन वह एक बीज था जिसने न जाने कितने मनो में राष्ट्रीयता का अंकुर उपजाया होगा?

हिन्दी के लिए पुरातत्व-विषय तब बिलकुल नया, बिलकुल अनछुआ था जब महापंडित, त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन के सम्पादकत्व मे भागलपुर से 'गंगा' का पुरातत्व अंक प्रकाशित हुआ। यह 1933 ई0 के आस-पास की बात

हो। उन्हीं दिनों विशाल भारत कलकत्ता ने पं0 ...... चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में अपना 'कला- अंक' निकाला था। उस पीढ़ी में जो हमारे देखते देखते दृष्टि से तिरोहित हो गई एक विशेषता थी। चाहे रायकृष्णदास जी हों, आचार्य श्री वासुदेवशरण अग्रवाल हों या डॉ0 मोतीचन्द्र जी हों, वे सब हिन्दी के प्रति समर्पित विद्वान् थे और यह देखते थे कि हिन्दी में कौन-सी विधा अथवा क्षेत्र अपूर्ण है और उसे उसको भरना है। मैंने कला और संस्कृति की ग्रन्थ तालिका (बिब्लोग्राफी) तयार की है और मैं यह पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि 'सार्थवाह', 'प्राचीन भारतीय वेष-भूषा' अथवा 'काशी के इतिहास' जैसी कृतियाँ भारतीय भाषाओं में ही नही अंग्रेजी, फ्रेंच अथवा जर्मन जैसी समृद्ध भाषाओं में भी नही है। 'गंगा' के 'पुरातत्व अंक में डॉ0 मोतीचन्द्र जी का एक प्रारम्भिक लेख प्रकाशित हुआ था। इसी अंक में मथुरा संग्रहालय पर वासुदेवशरण जी अग्रवाल का लेख 'वासुदेव शरण गोभिल के नाम से प्रकाशित हुआ था।

डॉ0 मोतीचन्द्र जी तथा डॉ0 वासुदेवशरण जी अग्रवाल एक दूसरे के अभिन्न--हृदय मित्र थे। मुझे सन् 1949 में बम्बई में प्रिन्स ऑफ वेल्स संग्रहालय की गैलरी मे उनके दर्शन प्रथम बार हुए, गम्भीर प्रभावशाली व्यक्तित्व, सिर पर गाधी टोपी देह पर लम्बी शेरवानी और चौड़े पांयचे का पाजमा। वे किन्हीं सज्जन से किसी मूर्ति के आगे खड़े होकर कुछ चर्चा कर रहे थे। कुछ वर्ष के पश्चात् डॉ0 अग्रवाल की कृपा से उनके निकट दर्शन सम्भव हो सके। अड़तीस साल पुरानी घटनायें याद करता हूँ तो एक सपना सा लगता है। उन दिनों मध्य प्रदेश का नवगठन नहीं हुआ था और उसकी राजधानी नागपुर थी। उन दिनों मे मध्यप्रदेश शासन के सूचना विभाग में काम कर रहा था। उन्हीं दिनो इतिहास परिषद या किसी अन्य संस्था का नागपुर में वार्षिक अधिवेशन हुआ। मैं डॉ0 वासुदेवशरण जी अग्रवाल से मिलने गया तो डॉ0 मोतीचन्द्र के दर्शन हो गए। मित्रों की सलाह थी कि इन लोगो के सम्मान में एक छोटी सी गोष्ठी का आयोजन कर लिया जाय। मेरे आग्रह को सौभाग्य से इन दोनों महानुभावों ने स्वीकार कर लिया।

नागपुर में धर्मपेठ इलाके में स्नेह-मूर्ति पं0 परमानन्द जी चौबे निवास कर रहे थे। हम लोग कमिश्नर साहब को 'कक्का' कहते थे।, यों मैनपुरी के रिश्ते से वे मेरे फूफा थे। मेरे ऊपर उनका स्नेह था। गोष्ठी का आयोजन उन्हीं की कोठी पर हुआ। उनके भतीजे श्री नरेशचन्द्र जी ने सारी व्यवस्था सुचारु रूप से संभाल ली। गोष्ठी मे प्रख्यात कवि तथा नाटककार प0 उदयशंकर भट्ट (उन दिनो नागपुर आकाशवाणी के हिन्दी सलाहकार) श्री रामगोपाल माहेश्वरी, संचालक, नवभारत, नागपुर, पं0 हृषीकेश शर्मा, मन्त्री राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, श्री गजानन माधव मुक्तिबोध तथा अन्य कई प्रतिष्ठित सज्जनों ने पधारने की कृपा की थी। श्री रणछोड लाल ज्ञानी डॉ0 मोतीचन्द्र जी के साथ ही आये थे

डॉ० मोतीचन्द्र जी तथा अग्रवाल साहब ललित-कला और पुरातत्व से सम्बन्धित विद्वान थे, इसलिए चर्चा उन्ही विषयों के आस-पास घूमती रही। डॉ० मोतीचन्द्र काशी के प्रतिष्ठित परिवार के, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के वंशधर थे और काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय से एम० ए० करने के बाद डाक्टरेट के लिए लन्दन गए थे। वहाँ से वापस आकर वे प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूज़ियम, बम्बई में नियुक्त हुए।

गोष्ठी मे डॉ० मोतीचन्द्र जी ने कहा, "हम लोग पुरातत्व का महत्व नही समझते इसलिए कभी-कभी बड़ी भयानक गलतियाँ कर बैठते हैं। लोग यह समझते ही नहीं कि सिक्के इतिहास की प्रामाणिक साक्षी होते हैं। सोने या चाँदी के सिक्के मिले और लोभ मे उस धातु से कही अधिक मूल्यवान् सिक्के गला दिए गए। हमारे यहाँ काशी मे महाराज चेतसिंह के दीवान जगतसिंह ने जगतगंज बसाने के लिए, महज़ ईंटों के लिए सारनाथ का धर्म-राजिका स्तूप तोड़ डाला।" अजंता का जिक्र आने पर उन्होंने बतलाया कि अजंता की कला का प्रभाव न केवल भारत के बल्कि श्रीलंका के सिगरिया के भित्ति-चित्रों पर, अफ़गानिस्तान के बामियाँ के चित्रों पर और चीन के तुनह्वाग गुहा-मन्दिरों के चित्रो पर भी पड़ा है।" चर्चा इतनी मनोरंजक थी कि पौने दो घंटे कैसे बीत गए, यह पता ही न चला।

उन दिनों नागपुर में महा-महोपाध्याय डॉ० वासुदेव विष्णु मिराशी, आचार्य श्री विनय मोहन शर्मा तथा जैन साहित्य के मर्मज्ञ डॉ० हीरालाल जैन जैसी विभूतियाँ विराजमान थी। डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल तथा डॉ० मोती चन्द्र जी उनसे मिलने भी गए। इन दोनों विद्वानों की मैत्री न केवल जीवन-भर निभी बल्कि उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य साथ-साथ किए। 'चतुर्भाषी' मे उन्होने ईश्वरदत्त कृत, 'धूर्तविट सम्वाद', वररुचि कृत 'उभयाभिसारिका' आदि का सम्पादन तथा अनुवाद भी किया। उन्होंने उनमें आए हुए गूढ शब्दो की भी व्याख्या करके उनको स्पष्ट किया।

'प्राचीन भारतीय वेश-भूषा' संवत् 2007 विक्रमी में भारत दर्पण 'ग्रथमाला' के अन्तर्गत लीडर प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। इस ग्रंथ में डॉ० मोतीचन्द्र जी ने मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के सिन्धु-घाटी सभ्यता काल से लेकर गुप्तकाल तक के वस्त्रों का अध्ययन प्रस्तुत किया। इसमें वैदिकयुग, महाजानपदकाल शैशुनाग, मौर्य, शुंग, शक, सातवाहन आदि राजवंशो के समय की वेशभूषा का गहराई के साथ अध्ययन किया गया है और तत्कालीन साहित्य से उसके साक्ष्य एकत्रित किए गए है। इस ग्रन्थ को जो अत्यन्त परिश्रम-साध्य है, समकालीन मूर्तिकला तथा चित्रकला की विभिन्न शैलियों पर आधारित सैकड़ों रेखा-चित्रों से भी अलंकृत किया गया है।

कला का सम्बन्ध केवल धर्म और दर्शन से ही नहीं रहा, उसमें लौकिक पक्ष भी हुआ है जनता का हँसता खेलता जीवन भी प्रतिबिम्बित हुआ

है इस तथ्य का डॉ0 मोतीचन्द्र जी ने 'भारतीय वेश भूषा' की भूमिका में इन शब्दों में कहा

दर्शन की पर्यादा विचार धाराओं में डूबकर कला अपना अस्तित्व खो बैठती है। कला की दार्शनिक पृष्ठभूमि भारतीय कला के उस महत् उद्देश्य की अवहेलना करती है, जिसके अनुसार लोक जीवन कला सबके जीवन और भावनाओं का प्रतिबिम्ब है और जिसके द्वारा रसानुभूति करने का सबका अधिकार है।' उन्होंने अपने इस कथन को आगे और भी स्पष्ट किया है

''इसमें सन्देह नहीं कि दर्शन और धार्मिक तर्क भारतीय जीवन का बहुत प्रिय थे और जहाँ तक सूक्ष्म से सूक्ष्म आधिदैविक विचार-धाराओं के सृजन और मनन का सम्बन्ध है, भारतीय संसार के बड़े से बड़े दर्शनों से टक्कर लेते हुए आगे निकल जाते हैं। पर साथ ही साथ भारतीय, जीवन तथा उसके आधिभौतिक साधनों से भी प्रेम करते थे। सुसज्जित महल, कंगूरेदार नगर, अनेक जातियों और वर्णों वाले दास-दासियों से युक्त राज सभाएँ, वादक और नर्तक, चमचमाते हुए गहने और अनेक तरह की वेश-भूषाएँ और कपड़े प्रसाधन के लिए अनेक भाँति के 'गंध-द्रव्य', ये सब भी तो भारतीय संस्कृति और जीवन के प्रतीक थे।' इस ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय वेश-भूषा' के लिए लेखक को भारतीय वाङ्गमय के कितने ग्रन्थ और भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला के कितने नमूनों का सूक्ष्म अध्ययन करना पड़ा होगा, इसकी केवल कल्पना की जा सकती है। कहने का तो केवल शुंगकाल की पगड़ी है पर डॉ0 मोतीचन्द्र जी ने अपने इस ग्रन्थ में मूर्ति शिल्प के आधार पर चौबीस प्रकार की पगड़ियों का सचित्र वर्णन प्रस्तुत किया है।

राजा, अमात्य, नगर के सम्भ्रांत जन, भिक्षु भिक्षुणी, द्वारपाल तथा सैनिक आदि किस काल में किस प्रकार के वस्त्र पहना करते थे, इसका दिग्दर्शन केवल डॉ0 मोतीचन्द्र जैसे ही साधनाशील विद्वान् कर सकते थे। एक अन्तर्दृष्टा विद्वान्। 'प्राचीन भारतीय वेशभूषा' पर डॉ0 मोतीचन्द्र जी ने अंग्रजी में भी कुछ लेख लिखकर विभिन्न कालो में उसकी स्थिति पर प्रकाश डाला। अपनी एक पुस्तक 'कोस्टूम्स, टैक्सटाइल्स, कॉस्मैटिक्स एण्ड कॉयफर्स इन एन्शिएन्ट एण्ड मिडिवल इण्डिया' (प्राचीन युग तथा मध्य-काल में वेश-भूषा, बुनाई की कला, श्रृंगार-प्रसाधन तथा उणीष) में उन्होंने तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व से लेकर 13वीं शताब्दी ईसवी तक की वेश-भूषा तथा केश-विन्यास पर अपना विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ भी 'प्राचीन भारतीय वेश-भूषा' की भाँति ही साहित्य तथा कला के विभिन्न स्रोतो पर आधारित था। बड़े आकार में ढाई सौ पृष्ठों का यह सचित्र ग्रन्थ प्रसिद्ध प्रकाशक 'आरिएन्ट लॉग मैंन' से निकला। भारतीय वेश-भूषा पर ही उनके कुछ लेख अहमदाबाद के 'जनरल ऑफ इंडियन टैक्सटाइल हिस्ट्री' में प्रकाशित हुए उनमे से एक लेख तो केवल सुलतानों के काल की वेश भूषा पर

आधारित था। कश्मीर की शालों पर उन्होंने अपना एक अध्ययन अपने संग्रहालय के बुलेटिन संख्या 3 (1952-53) में प्रकाशित किया। इस प्रकार डॉ० मोतीचन्द्र जी ने एक सर्वथा नए विषय को छुआ और उस पर अपना शोधपरक कार्य प्रस्तुत किया।

डॉ० मोतीचन्द्र जी की अन्य महान् कृति है, 'सार्थवाह'। जिन दिनों मार्ग में लुट जाने का भय था, व्यापारी अपने काफ़िले बनाकर चला करते थे। इन काफ़िलों या कारवाँ को 'सार्थ' कहा जाता था। जातकों में इस प्रकार के सार्थ और सार्थवाहों का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ में लेखक ने प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर व्यापारिक मार्गों की तलाश की है। उत्तरापथ और दक्षिणापथ इसी से सम्बन्धित शब्द हैं। भारत में कौन सी वस्तु किस मार्ग से किस बन्दरगाह तक पहुँचती थी, इसका एक सजीव चित्रण सार्थवाह देता है। 'नैषध चरित' के अनुसार जब नल दमयंती को सोता हुआ छोड़कर चले गए तब उन्होंने एक सार्थ के साथ ही यात्रा की।

दक्षिण भारत के पूर्वी तट तथा पश्चिमी तट पर अनेक बन्दरगाह थे, जहाँ से विदेशों का सामान-आयात-निर्यात होता था। बंगाल की खाड़ी के सिरे पर ताम्रलिप्ति अथवा तमलूक था और उससे तनिक नीचे उत्कल में धौली, जहाँ सम्राट अशोक ने पर्वत को काटकर गज की मूर्ति उत्कीर्ण कराई थी। ताम्रलिप्ति से एक व्यापारिक मार्ग पाटलिपुत्र तथा इन्द्रप्रस्थ होता हुआ, भारत के सीमान्त पर स्थित तक्षशिला और बाल्हीक तक जाता था। ताम्रलिप्ति से दूसरा मार्ग विन्ध्याचल के ऊपर होता हुआ उज्जैन अथवा उज्जयिनी पहुँचता था। तक्षशिला वाले मार्ग से एक शाखा फूटकर कौशाम्बी (कोसम) जाती थी और वहाँ से उज्जयिनी। इसी मार्ग से कौशाम्बी का राजा उदयन चन्द्रप्रद्योत की कन्या वासवदत्ता को लेकर आया था। उज्जैन से एक प्रमुख व्यापारिक पथ भरूकच्छ पहुँचता था जो अरब सागर पर स्थित प्राचीन भारतीय एक प्रमुख बन्दरगाह था। वहाँ से भारवाही जलपोत अफ्रीका तथा यूरोप के नगरों को जाते थे। भरूकच्छ से लेकर नीचे कन्याकुमारी तक सोपारा, कल्लियेन, टिण्डिस तथा मुजिरिस आदि बन्दरगाहों की लम्बी श्रृंखला चलती जाती थी। इसी प्रकार ताम्रलिप्ति से जलपोत, धौली होता हुआ वेंगीपुरम् पहुँचता था, जहाँ से सुवर्णभूमि तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को जलपोत यात्री तथा सामान लेकर जाया करते थे। वेंगीपुरम् से नेल्लोर तथा उसके नीचे के बन्दरगाह होता हुआ जलपोत सिंहल अथवा श्रीलंका पहुँचता था। इसी समुद्री मार्ग से सम्राट् अशोक की पुत्री संघमित्रा और महेन्द्र श्रीलंका गए थे। सम्राट अशोक उन्हें पहुँचाने स्वयं ताम्रलिप्ति तक गए थे।

सारे देश में मार्गों का जाल सा बिछा था जिसका एक मानचित्र सा डॉ० मोतीचन्द्र जी का 'सार्थवाह' हमारे आगे रख देता है। वस्तुतः इस प्रकार के ग्रन्थ हिन्दी के गौरव ग्रंथ हैं हिन्दी ने अन्य भाषाओं से करके बहुत

सामग्री ली है लेकिन 'सार्थवाह' जैसे ग्रन्थ द्वारा यह उनको कुछ दे सकने के योग्य बनी है। इतिहास परक भूगोल (हिस्टॉरिकल ज्योग्राफी) का ग्रन्थ होते हुए भी 'सार्थवाह' इतिहास का शुष्क ढाँचा नहीं है। जातक कथाओं तथा अनेक ग्रन्थों के मनोरंजक वर्णनों ने उसे इतना जीवंत बना दिया है कि प्रारम्भ करने पर उसे छोडने का जी नहीं चाहता। शैली में कलिंग देश के युवराज समरकेतु अपनी विजय-यात्रा प्रारम्भ कर रहे हैं। सैनिक, मल्लक, अनुचरों और नाविकों से भरे जलपोत उनके साथ यात्रा कर रहे हैं। यह 'तिलक मञ्जरी' का कथांश है जो धनपाल ने अपनी आँखों से देखकर लिखा है। शैली के पत्तन (बन्दरगाह) पर धनपाल ने सैनिकों की बोलियाँ सुनकर लिखा है "मित्र प्रभुदत्त! स्वामी को क्या उत्तर दूँगा, उसके प्रिय लड्डुओं की गठरी तो खारे जल में गिरकर नष्ट हो गई.. ..मन्थरक, वह कोटो कथरी तो हाथ से गिरते ही घड़ियाल निगल गया अब तो जाड़े में ठिठुर कर मरना होगा। अग्निमित्र! तू सीढ़ी छोड़कर कूदकर जहाज पर चढ़ने की कोशिश क्यों कर रहा है? इस प्रयास में तू गिरकर किसी जलचर का शिकार बन जायेगा।"

रात मे पत्तन में तरह-तरह की आवाज गूँजने लगती थीं "जहाजों की जाँच करके छेदों में ऊन और मोम भर दो। हवा से टूटी रस्सियों की जाँच करो। पालों की जाँच करो। --यह मकर-चक्र आ रहा है। यह सर्पों की श्रेणी तैर रही है। दीपक लाओ और प्रकाश फेंको।. ...... .प्रहरियों से कहो कि रात को सावधान रहे।"

'समराइचकहा' छठी शताब्दी ईसवी में हरिदत्त ने लिखा था। उसमें उसने बंगाल की खाड़ी के कई प्रसिद्ध बन्दरगाहों का उल्लेख किया है। 'वैजयन्ती' का पत्तन ताल-पत्रों के झुंड से घिरा था। उसके चारों ओर पताकाएँ फहराती रहती थीं। यहाँ सुदूरवर्ती कौशाम्बी के व्यापारी तक अपना माल लेकर आते थे। रोज सैकड़ों व्यापारी यहाँ पहुँचते थे। पत्तन से कुछ दूर पर पंथशालाएँ, गज-शालाएँ और अश्व-शालायें थीं। इसी ग्रन्थ के एक अन्य बन्दरगाह में चीन से जलपोत अपना सामान लेकर आते थे। इस प्रकार डॉ० मोतीचन्द्र जी ने अपने ग्रन्थ 'सार्थवाह' में तत्कालीन जीवंत दृश्य प्रस्तुत किए हैं।

भारतीय कला के इस महान् ज्योतिर्धर की हिन्दी मे अन्य महत्वपूर्ण कृति है--'काशी का इतिहास'। यदि सिन्धु-घाटी सभ्यता के प्राक्ऐतिहासिक नगर, मोहेंजोदड़ों, हड़प्पा, चन्हूदड़ो या लोथल को छोड़ दिया तो काशी, आज भारत ही नही ससार की प्राचीनतम नगरी है, जिसे हिन्दू मान्यता के अनुसार शिव के त्रिशूल पर बसा माना जाता है काशी पण्डितों की विद्वानो की नगरी तो थी ही हिन्दी का भी काशी ने कबीर तुलसी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रसाद प्रेमचन्द्र और

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवदी जैसे उज्ज्वल रत्न प्रदान किए हैं। स्वयं डॉ0 मोतीचन्द्र जी भी इसी स्वर्णिम श्रृंखला की एक मूल्यवान् कडी है और इस प्रकार उन्होने यह इतिहास लिखकर अपनी मातृ भूमि का ऋण ही चुकाया है।

'काशी का इतिहास' का प्रथम सस्करण 1962 मे प्रकाशित हुआ था और कुछ दिनो बाद ही वह अप्राप्य हो गया था। दूसरा संस्करण वाराणसी के विश्वविद्यालय प्रकाशन द्वारा फिर निकला। काल-खण्ड की दृष्टि से विद्वान् लखक न इस विशाल ग्रन्थ को दो खण्डों मे विभाजित किया है. पहला प्राचीनकाल से लेकर सन् 1210 ई0 तक है और दूसरा खण्ड तब से लकर अद्यतन काल तक है। निश्चित ही समय की एक लम्बी परिधि को समेट कर किसी भी नगर का इतिहास लिखना एक बहुत कठिन कार्य है। स्वयं डॉ0 मोतीचन्द्र जी ने प्रथम सस्करण की भूमिका में लिखा है--

"शुरू में मुझे लगता था कि काशी जैसे प्राचीन नगर के बारे मे सूचनाओ का भण्डार होना चाहिए लेकिन मुझ यह देखकर आश्चर्य भी हुआ और अफ़सोस भी कि ज्यादा जानकारी उपलब्ध नही है फिर भी प्राचीन और बाद के साहित्यक स्रोतों, पुरातत्व पुरान कागजातो तथा अभिलेखों के आधार पर जो जानकारी मै जुटा सकता था, मैंने जुटाई।"

यों तो सम्पूर्ण ग्रन्थ एक अत्यन्त उपयोगी और महत्वपूर्ण प्रयास है फिर कला के अध्येता के लिए ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का अपेक्षाकृत अधिक महत्व है, वाराणसी के निकटवर्ती सारनाथ में भगवान् बुद्ध ने कौण्डिय आदि पच्च भद्रवर्गियो को धर्म प्रथमोपदेश दिया जिसे बौद्ध वाड्मय मे 'धर्मचक्र प्रवर्तन' अर्थात् धर्म क पहिए गतिशील करना कहा गया। सम्भवत: यह उसी स्थान पर हुआ जहॉ कि धमेख स्तूप स्थित है। मौर्य काल में सम्राट् अशोक ने सारनाथ में चतुसिंह शीर्षस्तम्भ स्थापित कराया। आज वह हमारे राष्ट्र की महा-मुद्रा है। यह सिह शीर्षस्तम्भ मूलगन्ध कुटी स पश्चिम में पड़ता था। मूलगन्ध कुटी मे भगवान् बुद्ध बैठकर ध्यान करते थे। भक्तों के लाए हुए सुगन्धित पुष्पों से वह महकती रहती थी।

कलान्तर में गुप्तकाल में यहाँ कई विहारो की स्थापना हुई, जिनके ध्वंसावशेष आज सारनाथ के क्षेत्र में बिखरे पड़े हैं। चीन के महाश्रमण फाहियान और हुएनत्सांग ने इन बिहारों को भिक्षुओं से भरा देखा था। गुप्तकाल में धमेख स्तूप की अलकरण युक्त पाषाण-पट्टो से अच्छादित कर दिया गया। नगर का विस्तार राज-घाट तक था, जहॉ खुदाई में विविध केश-विन्यास युक्त गुप्तकालीन मृण्मय मूर्तियॉ मिली हैं। डॉ0 मोतीचन्द्र जी ने इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं को भी अपने में समेटा है। दूसर खण्ड म लेखक ने महत्वपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेज एकत्रित करके उनसे निष्कर्ष निकाले हैं।

डॉ0 मोतीचन्द्र जी ने यह भी जानकारी दी है कि वैदिक साहित्य में काशी नाम बहुत बाद में आया का काशी के उत्कर्ष का श्रेय दिया है

भगवान् विश्वेश्वर (शिव) के सम्बन्ध में डॉ० मोतीचन्द्र मानते हैं कि काशी का वर्तमान हिन्दू धर्म का स्वरूप बुद्धकाल की देन है। उसी युग में काशी का नाम 'मिनिमुत्त क्षेत्र' पड़ा। इसके आराध्य अविमुक्तेश्वर थे। कालान्तर में अविमुक्तेश्वर का नाम तो समाप्त हो गया और उसकी जगह विश्वेश्वर का नाम प्रचलित हो गया। शायद यह बात बारहवीं शताब्दी में आरम्भ हुई। मोतीचन्द्र जी ने पेशवा के दस्तावेजों के आधार पर काशी में महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के निवास का इतिहास भी बतलाया है अंत में लेखक ने काशी के उन विद्वानों का उल्लेख किया है, जिनका शास्त्रार्थ काशी को गुंजाए रखता था। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि 'काशी का इतिहास' भी नई दिशा में उठाया गया पहला कदम है।

मूर्ति-विज्ञान के क्षेत्र में डॉ० मोतीचन्द्र जी ने अपना ध्यान सौंदर्य और सौभाग्य की आराध्या देवी लक्ष्मी के अध्ययन पर केन्द्रित किया। उन्होंने नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ में एक विशद लेख लिखा 'पद्मा श्री'। बाद में वाराणसी के ही एक अन्य विद्वान् डॉ० राय गोविन्दचन्द्र ने 'प्राचीन भारत में लक्ष्मी-प्रतिमा' नामक एक सुन्दर सचित्र पुस्तक की रचना की। डॉ० मोतीचन्द्र जी ने अपने संग्रहालय के बुलेटिन में 'प्राचीन भारत में यक्ष पूजा' तथा 'प्राचीन भारत में मातृदेवी' शीर्षक लेख भी लिखे। इनके लेखन में एक गहराई है किन्तु विषय-वस्तु की विविधता के क्षेत्र में अत्यधिक विस्तार है। कोई विद्वान् इतने अधिक विषयों पर इतने अधिकार के साथ लिख सकता है इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती 'भारतीय चित्रकला और संग्रहालय विज्ञान' उनके प्रिय विषय रहे।

'पदमश्री' के सम्बन्ध में उनकी मान्यता थी कि पहले 'श्री' और 'लक्ष्मी' दोनों अलग-अलग देवियाँ थीं और वैदिक काल में उनका स्वरूप मिल गया "अन्य देवी-देवताओं की तरह 'श्री-लक्ष्मी' भी हिन्दुओं के यहाँ देवी मानी जाती है किन्तु 'श्री' का ऐतिहासिक अनुशीलन करते समय कई नई बातें हमारी दृष्टि में आती हैं। पहली तो यह कि प्राचीन वैदिक साहित्य में 'श्री' के समान 'लक्ष्मी' से भी केवल सौन्दर्य का बोध होता था किन्तु आगे चलकर वह एक सुन्दर देवी के रूप में गृहीत हुई और उसमें उस 'माता देवी (ग्रेट मदर गॉडेस)' के कुछ गुण आरोपित हो गए, जिनकी अर्चना भारत से लेकर भूमध्य सागर तक होती थी।

भरहुत-बोधगया तथा सांची के प्रारम्भिक बौद्ध-शिल्प में लक्ष्मी के तीन रूप दिखलाई देते हैं, एक कमल वन में खड़ी हुई, दूसरी प्रफुल्लित पद्म के ऊपर उठे पदमकोष पर बैठी हुई और तीसरा गजों द्वारा अभिषिक्त, जिसे 'गज-लक्ष्मी' कहा गया है। लक्ष्मी को लेकर कुछ विद्वानों में काफी विवाद चला है। फूशे इसे 'बुद्ध-माता' मानते थे और उन्होंने इसे 'नेटिविटी' शब्द दिया था। इसके विपरीत भारतीय विद्वान् इसे वैदिक देवी मानते थे। पुराणों में तो इसकी प्रतीक-भावना को भी स्पष्ट कर दिया गया है पदम पुराणकार के अनुसार यह कमल आठ दिशाओं वाली पृथ्वी ही है जिस पर उसकी कृषि समृद्धि आसीन है अपनी

मूँडा मे मंगल कलशों से उसका अभिषेक करने वाले गज, वर्षा के मेघ हैं। बौद्ध साहित्य में 'सिरि कालकणि' की कथा मिलती है और जैनो मे तीर्थंकर के जन्म से पहले उनकी माता त्रिशला ने जो मांगलिक स्वप्न देखे, उनमें लक्ष्मी भी थी। डॉ0 मोतीचन्द्र जी ने वैदिककाल से लेकर मूर्तिकला और सिक्कों तक लक्ष्मी का इतिहास दिया है। लक्ष्मी पर उनके कई लेख अंग्रेजी मे भी प्रकाशित हुए है।

डॉ0 मोती चन्द्र जी ने लिखा है--

''इस युग (वैदिक युग) की सबसे महत्वपूर्ण बात 'श्री' और 'लक्ष्मी' के व्यक्तित्वों का एकीकरण है। 'लक्ष्मी' और 'लक्ष्मन्' चिन्ह का सम्बन्ध स्पष्ट है। जैसा शतपथ (ब्राह्मण) मे कहा गया है (8, 44, 11, 5, 43), 'लक्ष्मन्' अच्छे या बुरे स्वभाव का चिन्ह है, लक्ष्मी स्वयं स्वभाव है, जो लक्ष्मन् देखकर बतला दिया जाता है या बतलाया जा सकता है। अथर्ववेद के अनुसार (115) प्रत्येक मनुष्य एक सौ एक लक्ष्मियों से युक्त रहता है।. ..लक्ष्मी का यह मंगलात्मक अर्थ श्री की भावना के बहुत समीप है। दोनो ही कल्याण और समृद्धि की प्रतीक है। इन बातों को देखते हुए यह स्वभाविक जान पड़ता है कि 'श्री' जो सुख का द्योतन करती है और 'लक्ष्मी' जो उसे पा सकने की प्रवृत्ति का द्योतन करती है, एक मे मिल जाय।''

डॉ0 मोतीचन्द्र जी का एक अन्य महत्वपूर्ण लेख है 'एन्शिएन्ट इंडियन आइवरी' (प्राचीन भारतीय हाथीदाँत का शिल्प) यह लेख वस्तुतः आकार की दृष्टि से एक स्वतन्त्र पुस्तक ही है जो उनके सग्रहालय के बुलैटिन सख्या 6 में छपा है। डॉ0 मोतीचन्द्र जी एक अच्छे सम्पादक भी थे। उन्होंने इस बुलैटिन में अत्यन्त शोधपूर्ण स्थायी महत्व के लेख प्रकाशित किए। उन्होने 'ललित-कला' (ललित कला अकादमी नई दिल्ली के मुख-पत्र) का श्रीयुत कार्ल खडालावाला के साथ संपादन किया। इस पत्रिका में स्वयं उनके कई लेख है--

'प्राचीन भारतीय हाथी दाँत के शिल्प' मे उन्होंने महाकाव्यों-रामायण तथा महाभारत एवं बौद्ध साहित्य के ग्रन्थ 'दिव्यावदान' तथा 'महावस्तु' के साक्ष्यों का उल्लेख ही नही किया अपितु बाणभट्ट की 'कादम्बरी' और महाकवि कालिदास के नाटकों तथा काव्य-ग्रन्थों में भी उसके उल्लेख खोजे है। उन्होने अपने इस अध्ययन को प्रथम शताब्दी ईसा-पूर्व पौम्पियाई में प्राप्त 'श्री-लक्ष्मी' की मूर्ति, तेर की द्वितीय शताब्दी ईसवी की तेर की लक्ष्मी-प्रतिमा, तक्षशिला मे सिरकप से प्राप्त शिल्पांकन युक्त कंधे, बेग्राम मे प्राप्त हाथी दाँत की सन्दूकचियों के ऊपर के चित्रों तथा अपने संग्रहालय में सरक्षित कश्मीर की ध्यानावस्थित मुद्रा मे बैठे हुए भगवान् बुद्ध के वर्णन और चित्रों से अलंकृत किया है वह हाथी दाँत के मूर्ति-शिल्प का पहला, गम्भीर विवेचन है।

डॉ0 मोतीचद्र जी की ख्याति विशेषरूप से चित्रकला के जाने-माने विद्वान् एव विशेषज्ञ के रूप में थी भारतीय चित्रकला की शायद ही कोई शैली ऐसी

बची हो, जिसमें उनकी कलम ने कोई देन न दी हो। 'स्टडीज़ इन अर्ली इंडियन पेन्टिंग' (प्रारम्भिक भारतीय चित्रकला का अध्ययन। उनके उन चार भाषणों का संकलन है, जो उन्होंने अमरिका 'पेन्सिलवेनिया' विश्वविद्यालय में सन् 1963 में दिये। इनमें पहला व्याख्यान है 'ट्रांसफार्मेशन ऑफ दि गुप्ता वाकाटक ट्रेडिशन (गुप्ता-वाकाटक काल की परम्परा का रूपान्तरण। यह व्याख्यान अजन्ता और बाघ गुहामण्डप के भित्ति चित्रों पर आधारित है। दूसरा व्याख्यान बंगाल तथा नेपाल की लघु-चित्र कला पर है, और तीसरा पन्द्रहवीं शताब्दी की पश्चिम भारतीय चित्रशैली पर। इस विषय पर उनका स्वतन्त्र ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुका है--'जैन मिनिएचर पेन्टिंग फ्राम वैस्टर्न इंडिया।' कुछ विद्वानों ने इस शैली को गुजरात चित्र-शैली अथवा अपभ्रंश चित्र-शैली का नाम भी दिया है। चौथा व्याख्यान 'इमरजैन्स ऑफ न्यू ट्रेडिशन्स' नई परम्पराओं के प्रकटीकरण फारस के उस प्रभाव पर है जो सुल्तानों के समय की चित्रकला में परिलक्षित होता है। यह प्रभाव मालवा के 'निमतनामा' के चित्रों में स्पष्ट है। ग्रन्थ को उन 72 चित्रों से सजाया गया है, जिन्हें व्याख्यान देते समय दिखलाया गया था। उन पर विस्तृत टिप्पणी भी दी गई है।

डॉ0 मोतीचन्द्र जी को जब कोई नई चित्रित पाण्डुलिपि मिलती तो उस पर अपना लेख लिखते। उनके अपने संग्रहालय बुलेटिन संख्या 10 में प्रकाशित 'एन इलस्ट्रेटेड मैनुस्क्रिप्ट ऑफ दरबनामा', इस बुलेटिन की संख्या 4 में प्रकाशित 'पेन्टिंग्स फ्रॉम एन अलेस्ट्रेटेड वर्जन ऑफ रामायण' पेन्टेड एट उदयपुर इन सन् 1469 : आदि ऐसे ही लेख हैं।

उनका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लेख 'मुगलयुग के बेगड़ी' कला निधि, वाराणसी में प्रकाशित हुआ है। संग्रहालय-विज्ञान पर उनके कई लेख, जिनमें 'संग्रहालय का वास्तु' विषयक लेख भी है, 'जनरल ऑफ इंडियन म्युज़ियम्स नई दिल्ली में प्रकाशित हुए हैं। डॉ0 मोतीचन्द्र जी ने सामान्य दर्शकों के लिए अपने संग्रहालय की परिचय पुस्तकाएँ तक लिखी हैं।

डॉ0 मोतीचन्द्र जी के अनेक स्थायी महत्व के लेख 'ललित-कला', 'रूप-लेखा' तथा अन्य कला-पत्रिकाओं में बिखरे हुए हैं। इस छोटे से परिचयात्मक लेख में उन सबका नामोल्लेख तक कर सकना सम्भव नहीं है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, डॉ0 मोतीचन्द्र जी के कार्य पर अभी कोई शोध-कार्य नहीं हुआ है। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। जिसकी हम सभी प्रतीक्षा कर रहे हैं। कार्य जितना श्रम और समय-साध्य होगा, उतना ही अध्येता को कीर्ति प्रदान करेगा।

❑❑

डॉ० भगवत शरण उपाध्याय

समकालीन समाज में जिन मनीषियों ने अपने-अपने अध्ययन और चिन्तन के निष्कर्ष रूप में भारतीय दर्शन, इतिहास, कला और संस्कृति की नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, उनमें डॉ0 भगवत शरण उपाध्याय का नाम प्रथम पंक्ति में आएगा। उन्होंने इन विधाओं का एक सर्वथा नए परिप्रेक्ष्य में देखा। अन्य विद्वानों की दृष्टि जहाँ भारत और उसके सांस्कृतिक इतिहास पर केन्द्रित रही वहाँ उपाध्याय जी ने भारत की सांस्कृतिक देन को सम्पूर्ण मानव समाज की सांस्कृतिक देन को एक इकाई या अंश के रूप में स्वीकार किया। उनकी यह मान्यता थी--

"इतिहास समग्र है, अनवरत है, और सार्वभौमिक है। उसी प्रकार संस्कृति समान प्रयत्नों से उत्पन्न समान विरासत है, संयुक्त और समान से उत्पन्न प्रतिफल है।" इस दृष्टिकोण ने उपाध्याय जी की विचार-धारा को एक उदारता प्रदान की। पूर्वीय और पश्चिमी कला के गहरे अध्ययन ने उन्हें यह उदार, संतुलित दृष्टि दी। अपने विश्व सम्पर्क में भारत ने अन्य देशों को जो दृष्टि दी उस पर उनको गर्व था किन्तु हमारे देश को मिस्र या यूनान जैसे सुसभ्य देशों से विचार-परम्परा या कला तथा संस्कृति के क्षेत्र में जो देन मिली, उसे सहज रूप में स्वीकार करने में भी उनको कोई आपत्ति न थी।

डॉ0 भगवत शरण उपाध्याय एक बहुमुखी प्रतिभावान व्यक्ति थे। उनके लेखन का क्षितिज अत्यन्त व्यापक था। उन्होंने 'कालिदास के भारत' जैसे गम्भीर शोध-ग्रन्थ से लेकर छोटे बच्चों के लिए, भारतीय नगरों की कहानी? 'भारतीय नदियों की कहानी', 'भारतीय मूर्तिकला की कहानी' और 'भारतीय संस्कृति की कहानी' जैसी पुस्तकें दीं। यों उनका संस्कृत-साहित्य का गहरा अध्ययन था किन्तु उनकी भाषा विषय के अनुरूप चलती थी। बच्चों की किताबों का एक-एक शब्द फूल की तरह खिला है। मुझे उनका एक नाटक 'सीकरी की दीवारें जून' 1956 'आजकल' नई दिल्ली में देखने को मिला। नाटक में मुगल शाहज़ादी जहाँनारा की सेविका सकीना उससे कहती है--

"खुदा की रहमत फलेगी, शाहज़ादी। जो इतनी दिलेर इन्साफ पसन्द है उसका बाल बांका न होगा, हमारी हज़ार मिन्नतें उसके साथ हैं। हजार-हजार दुआएँ हमारे शाहज़ादे को उम्र और इकबाल बख्शेंगीं।"

हिन्दी साहित्य में शब्दों का ऐसा जादूगर, जिसके इशारे पर भाषा, नया-नया रूप बदलती हो, और नहीं मिलेगा। वे नागरी प्रचारिणी सभा काशी के विश्व कोश के सम्पादक ही नहीं थे, अपने आप में एक विश्व कोश थे। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि जितने अधिकार के साथ वे अवनीन्द्र नाथ ठाकुर जैमिनी राय या अमृता शेरगिल पर अपने विचार व्यक्त कर

डॉ० भगवत शरण उपाध्याय

सकते थे, उतने ही अधिकार के साथ वे माइकल एंजिलो, रैफेल, लियानार्दो दि विन्ची की कला अस्मिता पर भी बोल सकते थे।

बात सन् 1953 की है। उन दिनों डॉ0 उपाध्याय हैदराबाद के 'इंस्टीट्यूट आफ एशियन स्टडीज़' के डायरक्टर थे। वे किसी कार्यवश नागपुर आए थे। नए मध्य प्रदेश के गठन से पहले नागपुर मध्य प्रदेश को राजधानी थी और मैं वहाँ के सूचना तथा प्रकाशन विभाग में श्री गजानन माधव मुक्तिबोध के सहकारी के रूप में कार्य करता था।

मुक्तिबोध जी ने भगवत् शरण जी उपाध्याय के सम्मान मे अपने यहाँ मित्रों की एक छोटी सी गोष्ठी का आयोजन किया था। सम्भवतः वह श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी का दिन था और उस दिन की चर्चा का विषय भी श्रीकृष्ण ही था। उपाध्याय जी ने इस गोष्ठी में श्रीकृष्ण को ब्रज-जनपद के लोक--नायक के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा कि इन्द्र राजसत्ता का प्रतीक है। वह यह कभी सहन नही कर सकता कि ब्रजवासी उसकी पूजा को अस्वीकार करके उस गोवर्धन पर्वत की पूजा करें जिसकी हरी-भरी घास से उनकी गायों का वर्धन होता है, वे अधिक दूध देती हैं। श्रीकृष्ण ने ब्रजवासियों के साथ मिलकर कुपित देवराज की चुनौती का सामना किया और अतिवृष्टि से ब्रज की रक्षा की।"

इस घटना के पश्चात् मुझे कई बार वाराणसी, लखनऊ, उज्जैन और भोपाल में उनके दर्शन करने का अवसर मिला। उनकी तथा अपने मित्र पद्म श्री डॉ0 वि0 श्री वाकणकर की आत्मीयता मुझे बार-बार भोपाल से उज्जैन ले जाती थी। इतने बड़े अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति भी इतने निरभिमान, मुझ जैसे छोटे लेखक के प्रति इतने स्नेहालु हो सकते हैं। यह मेरी कल्पना से बाहर की बात थी। उज्जैन मे पहले वे विश्वविद्याल के बंगले में रहते थे, फिर फ्रीगंज में कलेक्टर की कोठी के पास रहने लगे। एक दिन उनके पास बैठा था, तभी उनकी पुत्र-वधू चाय लेकर आई। वे बोले, 'इसे पहचानते हो? यह तुम्हारे चतुर्वेदी समाज की ही लड़की है।' मुझे मालूम था कि हाथरस के श्रीयुत विद्याधर चतुर्वेदी की कन्या से उनके पुत्र का विवाह हुआ है। मुझ पर उनकी कृपा रही और मैने उन्हें अग्रज का सम्मान दिया। मारीशस के उच्चायुक्त पद पर उनकी नियुक्ति मेरे लिए एक हर्ष का समाचार और उनका आठ अप्रैल 1982 को आकस्मिक निधन मेरी व्यक्तिगत व्यथा थी। उनके प्रगतिमूलक विचारों के कारण लोग उन्हें भ्रमवश मार्क्सवादी या साम्यवादी समझते रहे। कैसी विडम्बना है? वे तो संस्कृति पुरुष थे।

डॉ0 भगवत शरण उपाध्याय का जन्म सन् 1910 ई0 में उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में हुआ था। बलिया ने हिन्दी को तीन विभूतियाँ दी है-- डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, प0 परशुराम चतुर्वेदी और डॉ0 भगवत शरण उपाध्याय। डॉ0 उपाध्याय की शिक्षा वाराणसी, प्रयाग और लखनऊ मे हुई। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे ही उनका वासुदेवशरण जी अग्रवाल से परिचय हुआ तब जी बी0 ए0 के तथा भगवत शरण जी इण्टर के छात्र थे दोनों ही बडे

प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे। डॉ0 अग्रवाल के निधन पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उपाध्याय जी ने लिखा है

"मेरा उनसे सम्बन्ध घना और पुराना था। प्रायः चालीस वर्ष पुराना। तभी से उसका प्रारम्भ हुआ जब सन 25 26 में हम दोनों हिन्दू विश्वविद्यालय मे पढ़ते थे, वह बी0 ए0 मे और मैं आई0 ए0 में था। हम दोनों की समान रुचि थी, समान ही प्रयत्न भी थे साहित्य, संस्कृति और इतिहास की दिशा में। दोनो साथ-साथ घण्टों बैठते, इतिहास और उसकी प्राचीन और आधुनिक प्रवृत्तियों पर विचार करते। हम दोनो की इतिहास सम्बन्धी दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न थीं।"[1]

भगवत शरण जी का जन्म सन् 1910 में बलिया जिले के उजागर ग्राम मे एक सुसंस्कृत ब्राह्मण परिवार में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा दीक्षा के पश्चात् वे वाराणसी आ गए जो बलिया का निकटवर्ती शिक्षा केन्द्र है। उन दिनों कांग्रेस का स्वतंत्रता संग्राम जोरो पर था। देश भक्ति के लहर से भगवत् शरण अछूते न रह सके। वे दो बार जेल गए। जेल में राजनैतिक बन्दियों में वे आयु में सबसे छोटे थे। बाद में उनको लगा कि उनका क्षेत्र 'भारतीय विद्या' है और वे सम्पूर्ण भाव से उसे समर्पित हो गए। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने इस उदीयमान प्रतिभा को सम्मान दिया। वे विश्वविद्यालय की पत्रिका के सम्पादक बने। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी तीनो भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति में एम0 ए0 करने के पश्चात् उन्होंने 'वीमेन इन ऋग्वेद' प्रकाशित कराई। यह सच है कि भारतीय नारी को जो प्रतिष्ठा वैदिक काल में मिली, वह उसके बाद फिर कभी नही मिली। महिलाओं के प्रति डॉ0 उपाध्याय का व्यवहार जीवनभर सम्मानपूर्ण रहा।

उनके सम्बन्ध में श्रीमती कमलारत्नम् ने लिखा है--'महिलाओं के प्रति भगवत् शरण विशेष संवेदनशील थे, शायद इसलिए कि वे सच्चे अर्थों में एक सुसंस्कृत व्यक्ति थे। उन्हीं के मुख से मैंने सर्वप्रथम यह नारी-वंदना सुनी, मैं ही रुद्र का धनुष तानती हूँ। मैं ही ब्रह्मद्वेषियों और शरु-हिंसकों का हनन करती हूँ। मै ही वायु बनकर प्रवाहित होती हूँ। इस पृथ्वी और आकाश के उस पार जो कुछ भी है, वह सब मेरी ही महिमा से प्रसूत हुआ है।"

डॉ0 भगवत शरण उपाध्याय एक सत्यान्वेषी साहित्यकार थे विश्व सम्पर्क के समूचे इतिहास की कड़ियों को पहचानने का उन्होंने जीवन भर प्रयत्न किया। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे डॉ0 भगवत् शरण उपाध्याय और डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल दोनो विद्वानों का समान स्नेह प्राप्त हुआ। डॉ0 अग्रवाल ने सन् 1947 में कला के क्षेत्र में मेरा प्रवेश कराया और मैंने उन्हे अपना पूज्य गुरु माना और डॉ0 भगवत् शरण उपाध्याय से मुझे वर्षों तक अग्रज का स्नेह मिला। दोनों का सांस्कृतिक अध्ययन अंग्रेजी व हिन्दी का एक ही महान्

1 हिन्दुस्तान साप्ताहिक नई दिल्ली 11 दिसम्बर 1966

दन रही। डॉ0 अग्रवाल ने पाणिनिकालीन भारतवर्ष पर अपनी पीएच0 डी0 तथा डी0 लिट् की उपाधि प्राप्त की। डॉ0 उपाध्याय ने 'कालिदास का भारत' नाम से प्राचीन युग का सबसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया। दोनो ही ग्रन्थ मूलत. अंग्रजी में लिख गए और स्वय लेखकों ने ही उनका हिन्दी रूपान्तर किया दोनों ही व्यक्ति सग्रहालयो से सम्बद्ध रहे। दोनो ने प्रथम बार अलग-अलग ढग से 'भारतीय ललित-कलाओं का इतिहास' लिखा और उसमे कला के प्रति अपना दृष्टिकाण और विचारधारा प्रस्तुत की।

डॉ0 भगवत् शरण उपाध्याय ने जीवन भर अपने विचारो और आस्थाओ के लिए सघर्ष किया। यही कारण है कि वे एक जगह नहीं टिक सके। परिस्थिति को उन्होंने कभी अपन ऊपर हावी नहीं होने दिया। लेखन अबाध गति से निरन्तर चलता रहा। उनकी सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हैं। अपने विद्यार्थी काल मे मुझे उनकी 'गर्जन संघर्ष और सबेरा' आदि पुस्तको को देखने का अवसर मिला था, जिनमें भारतीय सभ्यता के विकास की कथा कही गई है। यह सन् 1941-42 के आस-पास की बात है। कालान्तर में भगवत शरण जी का शोध-ग्रन्थ 'इडिया इन कालिदास' लखनऊ विश्वविद्यालय से स्वीकृत हुआ। बाद मे उन्होने स्वयं ही उसका हिन्दी रूपान्तर कालिदास का भारत (दो खण्ड) तैयार किया। उपाध्याय जी के साथ एक दु.खान्त घटना हो चुकी थी। उनकी पत्नी श्रीमती विनोदिनी उपाध्याय एक बालक को छोडकर इस ससार से चिरविदा ले चुकी थी। उपाध्याय जी ने अपना यह शोध-ग्रन्थ अपनी दिवंगता पत्नी को ही समर्पित किया।

उपाध्याय जी का मन उत्तर प्रदेश के नगरो से कुछ उखड़ सा गया। वे राजस्थान में पिलानी नगर मे चले गए। वहाँ बिड़ला इंस्टीट्यूट मे उन्होंने चार वर्ष तक इतिहास के प्राध्यापक के रूप में कार्य किया। इसके पश्चात् वे लखनऊ वापस लौट आये और मित्रों के आग्रह पर उन्होंने 1942 में लखनऊ संग्रहालय का अध्यक्ष पद स्वीकार कर लिया।[1] उपाध्याय जी स्वतंत्र विचारों क व्यक्ति थे। शासकीय नियम-बन्धन उन्हें रुचिकर न लगते थे। यदि वे चाहते तो किसी भी प्रशासनिक सेवा में प्रवेश करके बहुत बड़े अधिकारी बन सकते थे।

महाकवि कालिदास उपाध्याय जी के प्रिय कवि थे। उन्होने 'कालिदास के सुभाषित' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ सन् 1953 में प्रकाशित हुआ। उज्जैन के प0 सूर्य नारायण व्यास ज्योतिष शास्त्र के तो प्रकाण्ड पंडित थे ही, भारतीय संस्कृति के प्रति उनके मन मे असीम श्रद्धा थी। उन्होंने उज्जैन से 'विक्रम' नामक एक उच्चकोटि का हिन्दी मासिक प्रकाशित किया था। विक्रम के दो हजार वर्ष पश्चात् अर्थात् सवंत् 2001 (सन् 1944) में उन्होंने 'विक्रम अभिनन्दन

---

1 उन्ही दिनों सन् 1942 में जनरल ऑफ इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरिएन्टल आर्ट कलकत्ता मे उनका एक लेख 'स्कल्पचर्स ऑफ दि प्रोविशियल म्यूजियम लखनऊ प्रकाशित हुआ

ग्रन्थ का प्रकाशन भी मिनिभिया आरियन्टल इन्स्टीट्यूट में कराया था। उन्होंने प्रतिवर्ष कालिदास समारोह का आयोजन प्रारम्भ किया था। इसमें वे विद्वानों को आमन्त्रित करते। डॉ0 भगवत् शरण उपाध्याय भी अक्सर कालिदास समारोह में भाग लेते थे। उज्जैन का बुद्धिवादी समाज उनके भाषण की उत्सुकता से प्रतीक्षा करता था। उपाध्याय जी, जितने उच्चकोटि के लेखक थे उतने ही सफल वक्ता भी थे।

एक बार कालिदास समारोह में जब डॉ0 सम्पूर्णानन्द अध्यक्षता कर रहे थे उपाध्याय जी ने अपना भाषण धारावाहिक अंग्रेजी में देना प्रारम्भ कर दिया। सम्भवत: यह उन्होंने विदेशी श्रोताओं के कारण किया। यों भी वे यूरोप के अनेक विश्वविद्यालयों में भाषण देते रहते थे। उनकी प्रांजल भाषा ने श्रोताओं को विमुग्ध कर दिया। परन्तु जब उन्होंने स्वतन्त्र लेखन को अपनाया तो हिन्दी को वरीयता दी। हिन्दी वे विषय-वस्तु और पाठक के अनुरूप लिखते थे।

मुझे उनके जीवन की एक घटना स्मरण आती है। सन् 1964 के आस-पास की बात है, जब मुझे लखनऊ में उनके कुछ निकट में आने का अवसर मिला। लखनऊ के एक प्रतिष्ठित प्रकाशक ने बाल विश्व कोश तैयार कराने की योजना बना डाली। उसके लिए उन्होंने डॉ0 भागवत शरण जी से सम्पर्क किया और उन्हे इस कार्य के लिए लखनऊ बुला लिया।

जब मैं उनसे मिलने गया तो वे एक बड़े से कमरे में बड़ी सी चौकी पर कुरता-पाजामा पहने बैठे थे। चारों ओर मोटी मोटी किताबें बिखरी थीं। वे बोले, मैंने तुम्हे एक काम सौंपने के लिए बुलाया है। तुम्हें बाल विश्वकोश के लिए कलाकारों पर प्रविष्टियाँ लिखनी है। भारतीय कलाकार अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, नन्दलाल बोस, असित कुमार हाल्दर, जेमिनी राय और अमृता शेरगिल के बारे में लेख तुमने पढ़ा ही होगा। उसमें तुम्हें कोई खास दिक्कत नहीं आयेगी पर योरोपीय कलाकारो के सम्बन्ध मे तुम्हें पढ़ना होगा। ''यह कहकर उन्होंने मुझे रैफेल, लियोनार्दो दा विन्ची, वैनगॉग और पिकासो आदि की एक लम्बी सूची लिखवा दी। फिर बोले ''एक बात का ख्याल रखना तुम्हारा पाठक 13-14 वर्ष का किशोर है। समझ लेना कि तुम्हारे सामने बैठा है और तुम उससे चर्चा कर रहे हो। वह उसके सिर के ऊपर से न निकल जाय। भाषा भी ऐसी ही होनी चाहिये।''

उनके आदेशानुसार मैंने कुछ प्रविष्टियाँ तैयार भी की और उनसे उनको संतोष भी हुआ किन्तु योजना आगे न चल सकी। प्रकाशक महोदय को यह आशा थी कि शिक्षा-मंत्रालय द्वारा उनकी योजना स्वीकृत हो जायेगी और वह उन्हें प्रकाशनार्थ अनुदान भी देगा पर ऐसा नहीं हुआ। उपाध्यायजी लौट गए।

हिन्दी के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े उदार और स्पष्ट थे। उन्होंने लिखा है 'हिन्दी और उर्दू दोनों ही मूलत: एक हैं क्योंकि दोनों मे ही सम्यक क्रियायें प्रयुक्त होती है और उनका व्याकरणीय ढाँचा भी समान है जब दो प्रतीकमान भाषाओं की क्रियायें एक ही होती हैं तो भाषा भी एक होती है

फिर भी उपाध्याय जी उर्दू को हिन्दी की एक शाखा नही वह एक पूर्ण विकसित भाषा मानते थे। उर्दू को हिन्दी से पहले की भाषा भी मानते थे। 13वीं शताब्दी से पहले या अमीर खुसरो से पहले कोई हिन्दू या हिन्दी कवि नहीं हुआ। मै यहाँ ब्रजभाषा अवधी और भोजपुरी जैसी भाषाओं की बात नही कर रहा हूँ।[1] डॉ० उपाध्याय ने अन्य भाषाओं के शब्दों की एक सूची भी दी है जो हिन्दी में मिल गए हैं।[2] कागज, जागीर, सिपाही, मुहल्ला, देहात, परगना, कलम, कलमदान, सरखा, चादर, रजाई, लिहाफ आदि अब भला हिन्दी से कैसे अलग किए जा सकते है। संस्कृत की परम्परा से आया विद्वान् दोनो भाषाओं के समन्वय पर बल दे और जन-सामान्य की भाषा को सरल और सुबोध बनाने की बात कहे, यह उसके उदार दृष्टिकोण को ही प्रकट करता है।

डॉ० भगवत शरण उपाध्याय की प्रकाशित रचनाओ की संख्या सौ से भी अधिक है किन्तु 'कालिदास का भारत (दो खण्ड) भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, भारतीय ललित-कलाओं का इतिहास, वृहत्तर भारत और गुप्त साम्राज्य (या काल) का इतिहास उनकी प्रतिनिधि कृतियाँ हैं। उज्जैन में वे काफी दिनो तक विक्रम विश्व-विद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के विभागाध्यक्ष रहे। उन्ही दिनो उज्जैन के अनीता प्रकाशन से उनकी दो छोटी किन्तु अत्यन्त सुन्दर कृतियाँ प्रकाशित हुई अखण्ड भारत और मध्य प्रदेश नमामि। दोनों निबन्धो के संग्रह हैं। 'मध्य प्रदेश नमामि' के लेख पहले 'मध्य प्रदेश संदेश' भोपाल में प्रकाशित हुए और फिर पुस्तक रूप में छपे। मध्य प्रदेश के पाठक इस पुस्तक को कभी न भूलेंगे। 'संसार का पहिला विज्ञापन' गुप्त सम्राट कुमार गुप्त के समय में तन्तुकाओं द्वारा बनवाये सूर्य मन्दिर के शिलालेख के सम्बन्ध में हे। वैदिक वराह में उन्होने उदयगिरि गुहा के महावराह को अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की है। 'अवती और उदयन, मे उन्होंने अवन्ती के चण्डप्रद्योत की कन्या वासवदत्ता और वत्सराज उदयन की प्रेम कथा दी है। कौशाम्बी में ऐसे मृत्तिका फलक भी मिले हैं जिनमे इस कथा का अंश उभरा दिखलाई देता है।

भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका मे भारतीय मूर्तिकला, वास्तुकला, चित्रकला और संगीत के विकास क्रम का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही प्राचीन वाद्य यन्त्रो की भी चर्चा की गई है।

भारतीय ललित-कला का इतिहास हिन्दी में पहला कला-इतिहास है जो प्राक् ऐतिहासिक काल से लेकर मध्यकाल तक की विभिन्न-कला शैलियों के उद्गम और विकास की विस्तार से चर्चा करता है साथ ही सर्वदा नई दिशा मे उनके चितन को प्रकट करता है।

❑❑

1 भारतीय संस्कृति के स्रोत पृष्ठ 114
2 वही पृष्ठ 117

लेखक

जगदीश चन्द्र चुतर्वेदी भारतीय कला और संस्कृति के प्रति एक पूर्ण–रूपेण समर्पित लेखक हैं। उनका जन्म स्थान मैनपुरी (उत्तर प्रदेश) है किन्तु विगत् चालीस वर्षो से वे मध्य प्रदेश से सम्बद्ध हैं। उन्होंने मध्य प्रदेश के सूचना तथा प्रकाशन विभाग में यशस्वी कवि श्री गजानन माधव मुक्तिबोध के सहकारी के रूप मे कई वर्ष कार्य किया और उनसे जीवन–दर्शन प्राप्त किया। श्री जगदीश चन्द्र चतुर्वेदी ने कई वर्ष तक राजस्थान में संगरिया स्थित संग्रहालय मे संग्रहालयाध्यक्ष के रूप मे काम किया। सन् 1975 में उनको भारतीय इतिहास अनुसधान परिषद्, नई दिल्ली की सीनियर रिसर्च फैलोशिप दी गई और सन् 1982 में भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् द्वारा उन्हें नेपाल भेजा गया।

विगत् चालीस वर्षों मे उनकी कला, इतिहास, किशोर–साहित्य तथा बाल–साहित्य की 36 पुस्तके प्रकाशित हुईं। 'कला–यात्री' (1954), 'श्री' (भारतीय कला में लक्ष्मी, 1955), नटराज (1956), 'कला के प्राण : बुद्ध' (मध्य प्रदेश साहित्य–परिषद् द्वारा प्रकाशित, 1956), 'समन्वय की गंगा' (1964), 'मध्य प्रदेश के कला–मंडप' (1972) तथा 'साची के स्तूप' (1982) उनकी कला–सम्बन्धी प्रसिद्ध पुस्तकें है, जिन्हें लिखकर उन्होंने कला–इतिहासकार के रूप में यश अर्जित किया है। इन दिनों वे 'भारत की समन्वय वती प्रतिभाओं' पर एक ग्रन्थ लिखनें में संलग्न हैं। वे भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल को अपना आचार्य मानते हैं। श्री चतुर्वेदी का अपना एक कबीराना फक्कड़ अन्दाज है और वे मान–सम्मान, से निर्लिप्त हैं। हिन्दू और बौद्ध दोनों उन्हें समान रूप से अपना मानते हैं।